१. वीर निर्वाण से ४७० वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य का जन्म हुआ। उनके जन्म के २२ वें वर्ष में द्वितीय भद्रबाहु पट्टारूढ़ हुए। इस प्रकार पट्टारोहण वर्ष ४७०+२२=४९२।

२. जन्म के बाद १८ वर्ष पूर्ण कर लेने पर वीर नि० सं० (४७०+१८) ४८८ में विक्रमादित्य का राज्यारोहण हुआ। राज्यारोहण के चौथे वर्ष में भद्रबाहु (द्वितीय) पट्ट पर विराजे। इस प्रकार पट्टारोहण वर्ष ४८८+४=४९२।

इसके अतिरिक्त 'ए' पट्टावली के कर्त्ता ने लोहाचार्य को भद्रबाहु (द्वितीय) के बाद न रखकर छठे पट्टधर उमास्वामी के पश्चात् रखा है। तथा धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली को नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ में परिगणित नहीं किया है। कर्त्ता ने नन्दिसंघ की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है—

"सुभद्राचार्य स्युँ वर्ष २ विक्रम जन्म अर राज्य विक्रम की स्युँ वर्ष ४ भद्रबाहु जी पाटि बैठा॥ भद्रबाहु शिष्य गुप्तिगुप्त। तस्य नामत्रयं। गुप्तिगुप्त १ अर्हद्बलि २ विशाखाचार्य ३॥ तस्य चत्वारि शिष्य। नन्दिवृक्षमूलेन वर्षायोगो धृतः सह[१६] माघनन्दी तेन नन्दिसङ्घः स्थापितः। १॥ जिनसेननामतृणतले वर्षायोगो धृतः सह[१६] वृषभः तेन वृषभसङ्घः स्थापितः। २॥ येन सिंहगुहायां वर्षायोगः स्थापितः सह[१६] सिंहसङ्घं स्थापितवान्। ३॥ यो देवदत्तावेश्यागृहे वर्षायोगं स्थापितवान् सह[१६] देवसङ्घं चकार॥४॥"[१७]

अनुवाद—आचार्य सुभद्र के पट्टासीन होने के पश्चात् दूसरे वर्ष में विक्रमादित्य ने जन्म लिया। और विक्रम के राज्याभिषेक के चौथे वर्ष में भद्रबाहु (द्वितीय) पट्टारूढ़ हुए। भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त थे। उनके तीन नाम थे—१.गुप्तिगुप्त, २.अर्हद्बलि, ३.विशाखाचार्य। उनके शिष्यों की संख्या चार थी—१.माघनंदी, जिन्होंने नन्दिवृक्ष के नीचे वर्षायोग धारण किया था और नन्दिसंघ की स्थापना की थी, २.वृषभ, जिन्होंने 'जिनसेन' नामक वृक्ष के तले वर्षायोग धारण किया था और वृषभसंघ स्थापित किया था, ३.सिंह, जिन्होंने सिंह की गुफा में वर्षायोग किया था और सिंहसंघ की स्थापना की थी, ४. देव (द्वितीय), जिन्होंने देवदत्ता नाम की वेश्या के घर में वर्षायोग स्थापित किया था और देवसंघ बनाया था।

प्रो० हार्नले ने 'ए' और 'बी' पट्टावलियों के मूलपाठ का नमूना दिखाने के लिए जिस पहली प्रविष्टि को अपने आलेख में उद्धृत किया है, वह पूर्व में प्रदर्शित की जा चुकी है। उसमें उल्लिखित 'संवत् ४ चैत्र सुदि १४' (द्वितीय भद्रबाहु

---

१६. 'सः' के स्थान में 'सह' का प्रयोग, जो अशुद्ध है।

१७. The Indian Antiquary, october 1891, vol. XX, p.346.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

संवत् ४ की चैत्रशुक्ला चतुर्दशी को पट्ट पर आरूढ़ हुए थे) इन शब्दों से स्पष्ट है कि उक्त पट्टावलियों में विक्रम के राज्यारोहण वर्ष से ही विक्रम संवत् का आरंभ माना गया है। यदि विक्रम के जन्मवर्ष से उसका आरम्भ माना जाता, तो भद्रबाहु (द्वितीय) का संवत् २२ में पट्टारूढ़ होना बतलाया जाता। किन्तु ऐसा नहीं किया गया। इससे उक्त तथ्य में विवाद के लिए अवकाश नहीं रहता। पट्टावलीकारों ने प्रत्येक पट्टधर का विक्रम संवत् के अनुसार जो पट्टारोहणवर्ष दर्शाया है, प्रो० हार्नले ने स्वनिर्मित तालिका में तत्संगत ईसवी सन् भी प्रदर्शित किया है। (देखिए, तालिका इसी प्रकरण के शीर्षक २.१ तथा इसी अध्याय के अंत में 'विस्तृत सन्दर्भ' के अन्तर्गत)।

इन पट्टावलीकारों को संस्कृत में निबद्ध नन्दिसंघीय पट्टावलियाँ पहले से उपलब्ध थीं। उनका ज्यों का त्यों अनुकरण करते हुए उन्होंने नये पट्टधरों के भी नाम स्वकृत पट्टावलियों में जोड़े हैं। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख किया है कि कौन पट्टधर किस स्थान का पट्टाधीश था। वस्तुतः स्थानविशेष के पट्टाधीश होने की प्रथा भट्टारकपीठों की स्थापना के साथ भट्टारकवर्ग में शुरू हुई थी। किन्तु इन नवीन पट्टावलीकारों ने दिगम्बराचार्यों के साथ भी स्थानविशेष के पट्टाधीश होने की कल्पना जोड़ दी और उन्हें भी स्वकल्पनानुसार विभिन्न स्थानों का पट्टाधीश घोषित कर दिया। उपर्युक्त दो पट्टावलियों के अलावा सन् १८९२ में जयपुर के पण्डित हरिदास शास्त्री से नन्दिसंघ की तीन और पट्टावलियाँ प्रो० हार्नले को प्राप्त हुई थीं। जिन्हें उन्होंने 'सी', 'डी' और 'ई' अक्षरों से चिह्नित किया है।[१८] इनमें भी किंचित् भिन्नताओं के साथ उसी गुरुपरम्परा एवं स्थान-कालादि का उसी पद्धति से वर्णन है, जो 'ए' और 'बी' पट्टावलियों में है। इनकी प्रविष्टियों के दो उदाहरण 'सी' पट्टावली से नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

"ऐसैं पूर्वोक्त प्रकार भद्रबाहु भए। ता कैं पीछैं और आचार्य अनुक्रम तैं भए है, सो किञ्चित् मात्र भद्रबाहु तैं लेकर याँ का वर्णन अनुक्रम तैं लिखिये है॥ विक्रम राजा कूँ राज्यपदस्थ के दिन तैं संवत् केवल ४ के चैत्र शुक्ल १४ चतुर्दशी दिने श्रीभद्रबाहु आचार्य भये। ता की जाति ब्राह्मण। गृहस्थ वर्ष २४ चौबीस। दीक्षावर्ष ३० तीस। पट्टवर्ष २२ बाईस के उपरि मास १० दश दिन २७ सत्ताईस वहुरि विरहदिन ३। तिन का सर्वायुवर्ष छिहत्तर ७६। पुनर्मास ११ ग्यारह॥"[१९]

---

१८. Prof. A. F. Rudolf Hoernle : Three Further Pattavalis of The Digambaras, The Indian Antiquary, Vol. XXI, March 1892, p.57.
१९. The Indian Antiquary, Vol. XXI, March, 1892, p. 68.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''बहुरि ता के पीछैं संवत् केवल छहवीस २६ का फाल्गुन शुक्ल १४ चतुर्दशी दिन मैं गुप्तगुप्ति नाम आचार्य जाति परवार भये। ता का गृहस्थ वर्ष २२ वाईस का। वहुरि दीक्षावर्ष १४ चौदह। पट्टस्थवर्ष ९ नौ, मास ६ छह, दिन २५ पच्चीस, विरह दिन ५ पाँच। या की सर्वायुवर्ष पैसठि ६५ मास ७ सात ६५।७ का जाननाँ॥''[१९]

इस पट्टावली में पट्टधरों के स्थानविशेष से सम्बद्ध होने का भी उल्लेख किया गया है। यथा—

''ता कै पीछैं भद्रबाहु सौं लेर मेरुकीर्त्ति ताँई पट्ट छव्वीस पर्यन्त दक्षिणदेश विषैं भद्दलपुरी में भए ॥ २६॥ वहुरि महाकीर्त्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छव्वीस पट्ट मालवा विषैं। ता मैं अठारह १८ उज्जैनी मैं भये। चन्देरी के विषैं ४ च्यार भए। भेल मैं ३ तीन भए। कुण्डलपुर एक भए १॥ यह सर्व छव्वीस २६ भए॥ वहुरि ता कै पीछैं वृषभनन्दि आदि सिंहकीर्ति अन्त ताँई पट्ट वारह १२ वाराँ विषै भए॥ १२॥ वहुरि ता कै पीछैं कनककीर्त्ति आदि वसन्तकीर्त्यन्त पट्ट दश १० चीतोड के विषैं भए॥ १०॥ वहुरि सूरचन्द्र १, माघचन्द्र १, ज्ञानकीर्त्ति १, नरेन्द्रकीर्त्ति १, ये च्यार पट्ट वघैरै भये॥ ४॥ वहुरि प्रोष्ठलकीर्त्ति आदि प्रभाचन्द्रान्त पट्ट ६ छह अजमेर भये। ६। वहुरि पद्मनन्दी आदि शुभचन्द्रान्त पट्ट २ दोय गुजरातदेश विषैं वाग्वर देश मैं भये॥ वहुरि सकलकीर्त्ति आदि वाग्वर देश मैं भये। ऐसैं श्रीमूलसङ्घ नन्द्याम्नाय सारस्वतीगच्छ बलात्कारगण की पट्टावली अनुक्रम तैं जाननाँ ऐसैं॥''[२०]

प्रो० हार्नले द्वारा A और B पट्टावलियों के आधार पर निर्मित्त तालिका ही 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की पट्टावली' के नाम से जानी जाती है।

४

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द का समय

पूर्वोद्धृत इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था, ११ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की थी और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की अवस्था में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। वे ५१ वर्ष १० मास एवं १० दिन तक आचार्यपद पर आसीन रहे, उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष १० मास और १५ दिन था।

---

२०. Ibid., p. 69.

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय प्रकरण

कुन्दकुन्द को भट्टारक असिद्ध करनेवाले पट्टावलीगत तथ्य

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, आचार्य हस्तीमल जी ने पूर्वोद्धृत तालिकाबद्ध पट्टावली के आधार पर जो यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द भट्टारकपरम्परा के थे, वह युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। पट्टावली में निर्दिष्ट तथ्य ही इसके साक्षी हैं। उनका प्ररूपण नीचे किया जा रहा है।

१

कुन्दकुन्द 'नन्दी' आदि संघों की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती

१. आचार्य हस्तीमल जी ने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की पट्टावली में सभी आचार्यों के लिए सात बार 'पट्टाधीश' विशेषण और दो बार 'भट्टारक' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध है कि वह भट्टारक-परम्परा की मूल पट्टावली है।

प्रतीत होता है कि आचार्य जी ने 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रो. हार्नले द्वारा प्रकाशित पट्टावलियों के मूल पाठ का अवलोकन नहीं किया। **उनमें कहीं भी 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग नहीं है।** उनमें तो 'पट्ट', 'पट्टस्थ' और 'आचार्य' शब्दों का प्रयोग है। जैसे ''बहुरि ता के पीछैं **पिच्यासीमाँ पट्ट,** संवत् १४५० चौदह सौ पच्चास का माघ शुक्ल पञ्चमी ५ नैं शुभचन्द्र भया।''[२१]

अनुवाद—''और उनके पश्चात् पचासीवें (८५ वें) **पट्ट** संवत् १४५० की माघ शुक्ल पञ्चमी को शुभचन्द्र हुए।''

''वहुरि महाकीर्त्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छव्वीस **पट्ट** मालवा विषै ँ।''[२१]

अनुवाद—और महाकीर्ति से लेकर महीचन्द्र तक छब्बीस **पट्ट** मालवा में हुए हैं।

''विक्रम राजा कूँ राज्यपदस्थ के दिन तैँ संवत् केवल ४ के चैत्र शुक्ल चतुर्दशी दिने श्रीभद्रबाहु **आचार्य** भये।''[२२]

---

२१. The Indian Antiquary, vol. XXI , p.69.

२२. Ibid., p. 68.

"बहुरि ता के पीछैं संवत् केवल छहवीस २६ का फाल्गुन शुक्ल १४ चतुर्दशी दिन मैं गुप्तगुप्ति नाम आचार्य जाति परवार भये। ता का गृहस्थ वर्ष २२ वाईस का। वहुरि दीक्षावर्ष १४ चौदह। पट्टस्थवर्ष ९ नौ, मास ६ छह, दिन २५ पच्चीस, विरह दिन ५ पाँच। या की सर्वायुवर्ष पैसठि ६५ मास ७ सात ६५।७ का जाननाँ॥"[१९]

इस पट्टावली में पट्टधरों के स्थानविशेष से सम्बद्ध होने का भी उल्लेख किया गया है। यथा—

"ता कै पीछैं भद्रबाहु सौं लेर मेरुकीर्त्ति ताँई पट्ट छव्वीस पर्यन्त दक्षिणदेश विषैं भद्दलपुरी में भए ॥ २६॥ वहुरि महाकीर्त्ति आदि लेर महीचन्द्रान्त ताँई छव्वीस पट्ट मालवा विषैं। ता मैं अठारह १८ उज्जैनी मैं भये। चन्देरी के विषैं ४ च्यार भए। भेल मैं ३ तीन भए। कुण्डलपुर एक भए १॥ यह सर्व छव्वीस २६ भए॥ वहुरि ता कै पीछैं वृषभनन्दि आदि सिंहकीर्ति अन्त ताँई पट्ट वारह १२ वाराँ विषै भए॥ १२॥ वहुरि ता कै पीछै कनककीर्त्ति आदि वसन्तकीर्त्यन्त पट्ट दश १० चीतोड के विषैं भए॥ १०॥ वहुरि सूरचन्द्र १, माघचन्द्र १, ज्ञानकीर्त्ति १, नरेन्द्रकीर्त्ति १, ये च्यार पट्ट वघेरै भये॥ ४॥ वहुरि प्रोष्ठलकीर्त्ति आदि प्रभाचन्द्रान्त पट्ट ६ छह अजमेर भये। ६। वहुरि पद्मनन्दी आदि शुभचन्द्रान्त पट्ट २ दोय गुजरातदेश विषैं वाग्वर देश मैं भये॥ वहुरि सकलकीर्त्ति आदि वाग्वर देश मैं भये। ऐसैं श्रीमूलसङ्घ नन्द्याम्नाय सारस्वतीगच्छ बलात्कारगण की पट्टावली अनुक्रम तैं जाननाँ ऐसैं॥"[२०]

प्रो० हार्नले द्वारा A और B पट्टावलियों के आधार पर निर्मित्त तालिका ही 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की पट्टावली' के नाम से जानी जाती है।

४

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द का समय

पूर्वोद्धृत इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था, ११ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की थी और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की अवस्था में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। वे ५१ वर्ष १० मास एवं १० दिन तक आचार्यपद पर आसीन रहे, उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष १० मास और १५ दिन था।

---

२०. Ibid., p. 69.

✧✧✧

अनुवाद—"विक्रमराज के राज्यपद पर आरूढ़ होने के दिन से संवत् ४ की चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को श्री भद्रबाहु आचार्य हुए।"

यहाँ **पट्ट** शब्द प्रमुख या प्रधान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कोश में भी **पट्टमहिषी, पट्टराज्ञी, पट्टशिष्य** आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनका अर्थ है प्रमुख या प्रधान रानी,[२३] प्रमुख शिष्य आदि। उपर्युक्त वाक्यों में भी 'पट्ट' का अर्थ प्रधान मुनि या प्रसंगानुसार किसी पीठ या संस्था का प्रमुख है। मुनियों के प्रसंग में 'पट्ट' शब्द 'आचार्य' का पर्यायवाची है, जैसा कि उपर्युक्त 'श्रीभद्रबाहु आचार्य भये' शब्दों से स्पष्ट है। 'पट्टावली' शब्द भी '**पट्टानां प्रमुखाम् प्रधानानाम् आचार्याणां वा आवलिः पङ्क्तिः**' इस विग्रह के अनुसार आचार्यों अथवा भट्टारक-सम्प्रदाय के प्रसंग में भट्टारकपीठ पर आसीन पुरुषों की परम्परा का वाचक है। पट्टावली के पर्यायवाची के रूप में 'गुर्वावली' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

"१ संवत् ४ चैत्र सुदि १४ भद्रबाहु जी गृहस्थवर्ष २४ दीक्षावर्ष ३० **पट्टस्थवर्ष** २२, मास १०, दिन २७ ---।" (The Indian Antiquary , Vol.XX , p.344)। इस वाक्य में 'आचार्य' के लिए **पट्टस्थ** (पट्ट = प्रधान पद पर स्थित) शब्द का प्रयोग किया गया है। (पट्टस्थवर्ष = पट्ट पर स्थित व्यक्ति, उसके द्वारा व्यतीत किये गये वर्ष)। अन्यत्र भी 'पट्ट' शब्द आचार्यपद एवं भट्टारकपद के लिए प्रयुक्त हुआ है। (देखिये, इसी अध्याय की पादटिप्पणी क्र. ६८, ६९, ७०)। पट्टस्थ और पट्टधर शब्द एकार्थक हैं ।

प्रो० हार्नले ने 'पट्ट' एवं 'पट्टस्थ' शब्दों का अँगरेजी अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ धर्मगुरु होता है, पट्टाधीश नहीं। किन्तु, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने प्रो० हार्नले द्वारा तालिकारूप में प्रस्तुत अँगरेजी पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग कर दिया है। इसे आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली का मूलपाठ मान लिया है, जो उनका भ्रम है। यदि उन्होंने मूलपाठ देखा होता, तो यह भ्रम न होता।

पट्टावलियों के मूलपाठ में किसी आचार्य को भट्टारक शब्द से भी अभिहित नहीं किया गया है। केवल एक स्थान पर यह कहा गया है कि विक्रम सं० १३७५ में गुजरात में भट्टारक प्रभाचन्द्र का एक आचार्य (सेवक) था। एक श्रावक ने प्रभाचन्द्र को प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने के लिए बुलाया था, किन्तु वह नहीं आ सके। तब श्रावक ने उस आचार्य (सेवक) को सूरिमन्त्र देकर 'भट्टारक' की उपाधि प्रदान कर दी और उससे प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी। तब से गुजरात में पट्ट

२३. The principal wife of a king. (M. Monier Williams Sans.–Eng. Dictonary.)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की स्थापना हुई। वह आचार्य (सेवक) से भट्टारक हो गया। उसे पद्मनन्दी नाम दिया गया।[२४]

इस प्रकार उक्त पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का। अतः इन हेत्वाभासों के आधार पर आचार्य हस्तीमल जी का 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली को भट्टारक-पट्टावली मानना मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

२. उक्त पट्टावली को नन्दिसंघ की पट्टावली भी नहीं कहा गया है। प्रो० हार्नले के अनुसार उसमें 'सरस्वती गच्छ की पट्टावली' शीर्षक दिया गया है[२५] और 'सरस्वतीगच्छ' नाम का प्रचलन 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित 'डी' पट्टावली के अनुसार उपर्युक्त भट्टारक पद्मनन्दी के ही समय में हुआ था। उन्होंने ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर सरस्वती की पाषाणप्रतिमा बनाई थी और उसे मंत्र के बल पर बोलने के लिए बाध्य कर दिया था। (उससे यह कहलवा दिया था कि दिगम्बरमत ही प्राचीन है, श्वेताम्बरमत नहीं)[२६] तब से सारस्वतगच्छ या सरस्वतीगच्छ का प्रचलन हुआ। इसके समर्थन में प्रो. हार्नले ने पीटर्सन को उपलब्ध पट्टावली से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है[२७]—

---

२४. "संवत् १३७५ दिन सुँ एक भट्टार्क प्रभाचन्द्र जी के आचार्य छो। सो गुजरात मे श्री भट्टार्क जी तो न छा अरु वै आचार्य ही छा। सो महाजन एक प्रतिष्ठा को उद्यम कीयो। सो वै तो न आय पहुँच्या। जदि आचार्य ने सूरिमन्त्र दिवाय अर भट्टार्क पदवी गुजरात की दीन्ही, प्रतिष्ठा करिवा पाछैँ। तठा सूँ गुजरात मे पट्ट थारो॥ आचार्य सूँ भट्टार्क हुवो। नाम पद्मनन्द जी दीयो॥" Paṭṭāvalī D, The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.
यहाँ 'आचार्य' शब्द सेवक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखिए पादटिप्पणी २६।

२५. Two Paṭṭāvalis of the sarasvati Gachchha of the Digambara Jains. (The Indian Antiquary, vol. XX, p.341). Three Further Paṭṭāvalīs of the Digambaras. (The Indian Antiquary, vol. XXI, p.57.)

२६. "प्रभाचन्द्र जी कै आचार्य गुजरात मैँ छो। सो वठै एकै श्रावक प्रतिष्ठा नैँ प्रभाचन्द्र जी नैँ बलायाँ। सो वै नाया। तदि आचार्य नैँ सुरमन्त्र (read सूरि) दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई। तदि भट्टारक पद्मनन्दि जी हुवा। त्याँ पाषाण की सरस्वती मुढै बुलाई॥" Pattavali D, The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.

विशेष—यहाँ आचार्य का अर्थ मुनिसंघ का आचार्य नहीं है, अपितु भट्टारक के परिकर (सेवक समूह) से सम्बद्ध कोई ब्रह्मचारी या पण्डित है। इसीलिए 'डी' पट्टावली के मूलपाठ में 'भट्टारक प्रभाचन्द्र का एक आचार्य था' ऐसा कहा गया है। प्रो. हार्नले ने भी यही अर्थ किया है, यथा—"In Saṁvat 1375 there was a certain Āchārya belonging to (the suite of) the Bhaṭṭāraka Prabhāchandra." The Indian Antiquary, Vol. XXI, 78. शब्दकोश में suite का अर्थ परिकर या परिजन दिया गया है।

२७. The Indian Antiquary, Vol. XXI, p.78.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
उज्जयन्तगिरौ गच्छः स्वच्छः सारस्वतोऽभवत्
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥[२८]

अनुवाद—"जिन पद्मनन्दी गुरु ने ऊर्जयन्त पर्वत पर पाषाणनिर्मित सरस्वती को बोलने के लिए बाध्य कर दिया, वे बलात्कारगण के अग्रणी (प्रधान) बन गये। तब से स्वच्छ सारस्वतगच्छ का प्रचलन हुआ। इसलिए उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।"

उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर प्रो० जोहरापुरकर ने भी लिखा है कि **चौदहवीं सदी से ही बलात्कारगण या बलगारगण के साथ सरस्वतीगच्छ और उसके पर्याय-वाची भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नाम जुड़े हैं।**[२९] प्रोफेसर सा० के अनुसार बलात्कारगण का भी सबसे प्राचीन उल्लेख विक्रमसंवत् १०७० में आचार्य श्रीचन्द्र ने 'पुराणसार' में किया है।[२९] किन्तु ई० सन् १०४८ के एक शिलालेख में बलगारगण का उल्लेख मिलता है, जो बलात्कारगण का पूर्वरूप है[३०] और श्री चन्द्रप्रभ छोटा मन्दिर सिंरोज (म.प्र.) में विक्रम संवत् १००७ (९५० ई०) के प्रतिमालेख में मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण, इन तीन का उल्लेख है। यथा—

"वि० संवत् १००७ मासोत्तममासे फाल्गुणमासे शुक्लपक्षे तिथौ चतुर्थ्यां बुधवासरे श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण ठाकुरसीदास प्रतिष्ठितं।"

यह लेख सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने श्री कमलकुमार जैन के **जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख** ग्रन्थ की प्रस्तावना में पृष्ठ २० पर उद्धृत किया है।

श्रीदिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर (म.प्र.) में एक यन्त्र पर संवत् १२१९ का निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है, जिसमें मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, और कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय एक साथ उल्लिखित हैं—

"संवत् १२१९ जेष्ठ सुदी १० सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये खंडेलवालवंसे विलालागोत्रे सिंघई मल्लजी प्रतिष्ठित वृन्दावती कवने दयागमस्योपदेशणाम्।" (कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख / पृ.६८)

---

२८. यह वस्तुतः प्रथम शुभचन्द्रकृत गुर्वावली का ६३ वाँ श्लोक है। देखिए , इसी अध्याय के अन्त में 'विस्तृत सन्दर्भ'।

२९. भट्टारकसम्प्रदाय / पृष्ठ ४४।

३०. "बलगारगणद मेघनन्दिभट्टारक।" जैन-शिलालेख-संग्रह / मा.च. / भाग २ / ले.क्र.१८१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

छतरपुर (म.प्र.) के ही उपर्युक्त बड़ा मन्दिर में संवत् १२७२ (ईसवी सन् १२१५) के तीन प्रतिमालेखों में मूलसंघ और सरस्वतीगच्छ के नाम हैं तथा संवत् १३१० (ई० सन् १२५३) के एक यंत्रलेख में मूलसंघ, नन्दी-आम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय का उल्लेख है। (देखिये, आगे प्रकरण ४/शीर्षक ३.७)।

इन प्रतिमालेखों का प्रमाण देते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं—"भट्टारकसम्प्रदाय पृ. ४४ में प्रो० वी० पी० जोहरापुरकर ने यह संकेत किया है कि 'चौदहवीं सदी से मूलसंघ के साथ सरस्वतीगच्छ और उसके पर्यायवाची भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नाम जुड़े हैं' वह उक्त प्रतिमालेख को दृष्टिपथ में लेने से ठीक प्रतीत नहीं होता है।" (जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख : कमल कुमार जैन/ प्रस्तावना / पृ.२० / पा.टि.१)।

निष्कर्ष यह कि सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण ईसा की १०वीं शताब्दी में अस्तित्व में आये, जिससे फलित होता है कि कुन्दकुन्द बलगारगण या बलात्कारगण के प्रचलन से भी बहुत पूर्ववर्ती हैं। अतः बलात्कारगण की पट्टावली में उनका नाम होने पर भी वे इस गण के आचार्य या भट्टारक नहीं थे।

३. नन्दिसंघ का उदय भी कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल से बहुत बाद में हुआ है। यद्यपि इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में आचार्य माघनन्दी से पूर्ववर्ती आचार्य अर्हद्बली को 'नन्दी' आदि चतुर्विध संघों का जन्मदाता कहा है, तथापि श्रवणबेलगोल के शक सं० १३५५ (१४३३ ई०) के निम्नलिखित शिलालेख में कहा गया है कि भट्ट अकलंकदेव (६८० ई०) के दिवंगत हो जाने के बाद उनके अन्वय में उद्भूत मुनियों में देशभेद के कारण यह चार प्रकार का संघभेद हुआ था, किन्तु धर्माचरण में कोई विरोध नहीं था—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः॥ १८॥

तस्मिन् गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवः पतीन्नर्तुमिव प्रकृष्टान्।
तदन्वयोद्भूतमुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि सङ्घभेदाः॥ १९॥

स योगिसङ्घश्चतुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धवृत्तान्।
बभावयं श्रीभगवाञ्जिनेन्द्रश्चतुर्म्मुखानीव मिथस्समानि॥ २०॥

देव-नन्दि-सिंह-सेन-सङ्घभेदवर्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनाम्।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वृत्तत्तस्समस्ततोऽविरुद्ध-धर्म्म-सेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दिसङ्घ इत्यभूत्॥ २१॥[३१]

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं—"अकलंक से पहले के साहित्य में इन चार प्रकार के संघों का कोई उल्लेख भी अभी तक देखने में नहीं आया है, जिससे इस कथन के सत्य होने की बहुत कुछ संभावना पायी जाती है।"[३२]

न केवल साहित्य में, अपितु भट्ट अकलंकदेव के अस्तित्वकाल से पूर्व के शिलालेखों में भी इन संघों का उल्लेख अनुपलब्ध है। यद्यपि द्रमिळगण या द्रविळसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख १०६० ई० के आसपास के सोमवार-शिलालेख में[३३] तथा यापनीय-नन्दिसंघ की सर्वप्रथम चर्चा ७७६ ई० के देवरहल्लि-अभिलेख[३४] में तथा उसके बाद ८१२ ई० के कड़ब-अभिलेख में मिलती है,[३५] **किन्तु मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वय में नन्दिगण का सबसे पुराना उल्लेख १११५ ई० (शक सं० १०३७) के श्रवणबेलगोल के स्तम्भलेख पर उपलब्ध होता है।** यथा—

श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्ग्गाः श्रीगौतममाद्याः प्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव॥ ३॥

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र-सञ्जात-सुचारणर्द्धिः॥ ४॥

श्रीमूलसङ्घ कृत-पुस्तकगच्छ-देशी-
योद्यद्गणाधिपसुतार्किककचक्रवर्ती
सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणि मेघचन्द्र-
स्त्रैविद्यदेव इति सद्भिबुधाः स्तुवन्ति॥ २९॥[३६]

---

३१. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १/ ले.क्र.१०८ (२५८)।
३२. 'स्वामी समन्तभद्र'/ पृ.१८०-१८१।
३३. "गुणसेनपण्डितर्द्रविळगणम् वरनन्दिसंघमन्वयमरुङ्ग(लम्)।" जैन-शिलालेख-संग्रह/ माणिकचन्द्र / भा.२ / ले.क्र.१९२।
३४. क—"श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दितनन्दिसङ्घान्वये एरेगित्तूरनाम्नि गणे पुलिकल्-गच्छे --- चन्द्रनन्दीनाम गुरुरासीत्।" जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र/भा.२/ ले.क्र.१२१।
ख—यापनीय-नन्दिसंघ कई गणों में विभक्त था। उनमें कनकोपल-सम्भूत-वृक्षमूलगण (जै.शि.सं./मा.च./ भा.२/लेख क्र. १०६), श्रीमूलमूलगण तथा पुन्नागवृक्षमूलगण प्रमुख थे। (गुलाबचन्द्र चौधरी : प्रस्तावना / पृ.२७ / जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.३)।
३५. "श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्ष-मूलगणे" जैन-शिलालेख-संग्रह / भाग २ / ले.क्र.१२४।
३६. जैन-शिलालेख-संग्रह/ माणिकचन्द्र / भा.१ / ले.क्र.४७ (१२७)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इसके बाद 'नन्दिगण' का उल्लेख ई० सन् ११२३ से लेकर ११७७ ई० तक **जैन शिलालेख संग्रह** (मा.च.) भाग १ के लेख क्र. ४३ (११७), ५० (१४०), ४० (६४), ४२ (६६) में मिलता है। किन्तु **नन्दिसंघ** शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख १२वीं शताब्दी के एक लेख में हुआ है। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—"बूढ़ी चँदेरी (गुना) स्थित १२वीं शताब्दी का एक ऐसा लेख भी हमारे संग्रह में है, जिसमें मात्र कुन्दकुन्दान्वय-नन्दिसंघ का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। लेख का वह अंश इस प्रकार है"—

"श्री कुन्दकुन्दान्वयनन्दिसंघे जातो मुनिः श्री शुभकीर्तिसूरिः।"

(जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख / प्रस्तावना / पृ.२०)

तत्पश्चात् 'नन्दिसंघ' शब्द मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय के साथ विजयनगर के १३८६ ई० के दीपस्तम्भ लेख पर आया है। यथा—

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी॥ ३॥

आचार्यकुण्डकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥ ४॥

केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम्।
जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः॥ ५॥[३७]

इसके बाद १३९८ ई० (शक सं० १३२०) के एक श्रवणबेलगोल-स्तम्भलेख पर पाया जाता है। यथा—

अर्हद्बलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घं।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥२६॥

सिताम्बरादौ विपरीतरूपे खिले विसङ्घे वितनोतु भेदं।
तत्सेननन्दि-त्रिदिवेश-सिंह-सङ्घेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः॥ २७॥

सङ्घेषु तत्र गणगच्छ-वलि-त्रयेण
लोकस्य चक्षुषि भिदाजुषि नन्दिसङ्घे।
देशीगणे धृतगुणेऽन्वितपुस्तकाच्छ-
गच्छेऽङ्गुलेश्वरवलिर्जयति प्रभूता॥ २८॥[३८]

३७. वही / भाग ३ / ले.क्र.५८५।
३८. वही / भाग १ / ले.क्र.१०५ (२५४)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन: 0731-2571851 मो.: 8989505108 e-mail: sanskarsagar@yahoo.co.in

श्रवणबेलगोल के ही १४३३ ई० (शक सं० १३५५) के शिलालेख में भी उक्त उल्लेख मिलता है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः॥ १०॥

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्त्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्त्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥ ११॥

नन्दिसङ्घे सदेशीयगणे गच्छे च पुस्तके।
इंगुलेशबलिर्जीयान्मङ्गलीकृत-भूतलः॥ २२॥[३९]

शिलालेखों के अध्येता डॉ. गुलाबचन्द्र जी चौधरी लिखते हैं कि "लेख नं० ५९६ (१०५, १४ वीं शताब्दी) और ६२५ (१०८, १५ वीं शताब्दी) में नन्दिगण को नन्दिसंघ कहा गया है और उसे मूलसंघ के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन दोनों लेखों में सेन, नन्दि, देव और सिंह संघों का एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है। --- ये दोनों लेख एक सुंदर काव्य कहे जा सकते हैं।"[४०]

इस प्रकार मूलसंघ के साधुवर्ग-विशेष का नन्दिगण या नन्दिसंघ नामकरण १२वीं शताब्दी ई० की घटना है उससे पूर्व की नहीं।

सन् ४६६ ई० (शक सं० ३८८) के मर्करा ताम्रपत्रों में कोण्डकुन्दान्वय के साथ केवल देशीयगण का सम्बन्ध दर्शाया गया है—

"देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य।"[४१]

गण-गच्छादि से रहित केवल 'कोण्डकुन्दान्वय' का निर्देश ७९७ ई० (शक सं० ७१९) तथा ८०२ ई० (शक वर्ष ७२४) के 'मण्णे' के अभिलेखों में मिलता है। यथा—

"आसीद (त्) तोरणाचार्य्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।"[४२]

"कोण्डकुन्दान्वयोदारो गणोऽभूत् भुवनस्तुतः।"[४३]

---

३९. वही / भाग १/ ले.क्र.१०८ (२५८)।
४०. वही / भाग३ / प्रस्तावना / पृ.५८।
४१. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / ले. क्र.९५, पृ.६३।
४२. वही / भा.२/ ले. क्र.१२२ / पृ.१२२।
४३. वही / भा.२/ ले. क्र. १२३ / पृ.१२९।

कोण्डकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का सम्बन्ध ८६० ई० के कोन्नूर-शिलालेख में बतलाया गया है—

''श्री-मूलसङ्घ - देशीयगण - पुस्तकगच्छतः।
जातस्त्रैकाल्ययोगीशः क्षीराब्धेरिव कौस्तुभः॥ ३५॥ ---

श्रीकोन्दकुन्दान्वयाम्बरद्युमणि विद्वज्जनशिरोमणि --- श्रीवीरनन्दिसैद्धान्तिक-चक्रवर्तिगळु।''[४४]

निम्नलिखित अभिलेखों में भी उपर्युक्त अन्वय, संघ, गण और गच्छ का वर्णन है—

''श्रीमूलसंघ-देशियगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय-इङ्गुळेश्वरदबळिय---।'' (१०४४ ई०)[४५]

''श्रीमूलसंघ-देसियगण-पोस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वयद श्रीमतु नागचन्द्र-चान्द्रायण-देवरशिष्य---।''(१०७८ ई०/ हट्टण / ले.क्र.२१८)।

जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च./द्वितीय भाग) के लेख क्र.२२३ (१०८० ई०), २३२ (१०९३ ई०), २६९ (१११८ ई०), २७५ (११२० ई०), २८४ (११२३ ई०), २९३ (११३० ई०), २९४ (११३० ई०), ३०० एवं ३०१ (११३३ ई०) में भी कुन्द-कुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण तथा पुस्तकगच्छ का ही सम्बन्ध दिखाया गया है। १२८० ई० के चिकमगलूर एवं १३५५ ई० के मलेयूर अभिलेखों-सहित[४६] जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च.)भाग ३ के भी ४२ अभिलेखों में कुन्दकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है। नौवीं शताब्दी ई० से लेकर बारहवीं शताब्दी ई० तक के शिलालेखों में कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के साथ क्राणूरगण, तिन्त्रिणीकगच्छ एवं मेषपाषाणगच्छ का भी कथन है। यथा—

''श्रीकुण्डकुन्दान्वय-मूलसंघे क्राणूरगणे गच्छ-सु-तिन्त्रिणीके।' (१०७५ ई०)[४७]

''श्रीमूलसंघ-वियदमृतामळरुचि-रुचिर-कोण्डकुन्दान्वय-लक्ष्मी-महितं जिन-धर्म्मल-लामं क्राणूरगगणं जनानन्दकरम्।'' (१११७ ई.)[४८]

---

४४. वही / भा.२ / ले. क्र. १२७ / पृ.१४५, १४८।
४५. वही / भा.२ / ले. क्र. १८० / पृ.२२०।
४६. वही / भाग / ३ / ले. क्र.५२६, ५६१।
४७. वही / भा.२ / ले. क्र. २०९ / पृ.२६९।
४८. वही / भा.२/ ले. क्र. २६७ / पृ.३९३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्रवणबेलगोल के ही १४३३ ई० (शक सं० १३५५) के शिलालेख में भी उक्त उल्लेख मिलता है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः॥ १०॥

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्त्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्त्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥ ११॥

नन्दिसङ्घे सदेशीयगणे गच्छे च पुस्तके।
इंगुलेशबलिर्जीयान्मङ्गलीकृत-भूतलः॥ २२॥[३९]

शिलालेखों के अध्येता डॉ. गुलाबचन्द्र जी चौधरी लिखते हैं कि "लेख नं० ५९६ (१०५, १४ वीं शताब्दी) और ६२५ (१०८, १५ वीं शताब्दी) में नन्दिगण को नन्दिसंघ कहा गया है और उसे मूलसंघ के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन दोनों लेखों में सेन, नन्दि, देव और सिंह संघों का एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है। --- ये दोनों लेख एक सुंदर काव्य कहे जा सकते हैं।"[४०]

इस प्रकार मूलसंघ के साधुवर्ग-विशेष का नन्दिगण या नन्दिसंघ नामकरण १२वीं शताब्दी ई० की घटना है उससे पूर्व की नहीं।

सन् ४६६ ई० (शक सं० ३८८) के मर्करा ताम्रपत्रों में कोण्डकुन्दान्वय के साथ केवल देशीयगण का सम्बन्ध दर्शाया गया है—

"देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य।"[४१]

गण-गच्छादि से रहित केवल 'कोण्डकुन्दान्वय' का निर्देश ७९७ ई० (शक सं० ७१९) तथा ८०२ ई० (शक वर्ष ७२४) के 'मण्णे' के अभिलेखों में मिलता है। यथा—

"आसीद (त्) तोरणाचार्य्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।"[४२]

"कोण्डकुन्दान्वयोदारो गणोऽभूत् भुवनस्तुतः।"[४३]

---

३९. वही / भाग १/ ले.क्र.१०८ (२५८)।
४०. वही / भाग३ / प्रस्तावना / पृ.५८।
४१. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / ले. क्र.९५, पृ.६३।
४२. वही / भा.२/ ले. क्र.१२२ / पृ.१२२।
४३. वही / भा.२/ ले. क्र. १२३ / पृ.१२९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कोण्डकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का सम्बन्ध ८६० ई० के कोन्नूर-शिलालेख में बतलाया गया है—

''श्री-मूलसङ्घ - देशीयगण - पुस्तकगच्छतः।
जातस्त्रैकाल्ययोगीशः क्षीराब्धेरिव कौस्तुभः॥ ३५॥ ---

श्रीकोन्दकुन्दान्वयाम्बरद्युमणि विद्वज्जनशिरोमणि --- श्रीवीरनन्दिसैद्धान्तिक-चक्रवर्तिगळु।''[४४]

निम्नलिखित अभिलेखों में भी उपर्युक्त अन्वय, संघ, गण और गच्छ का वर्णन है—

''श्रीमूलसंघ-देशियगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय-इङ्गुळेश्वरदबळिय---।'' (१०४४ ई०)[४५]

''श्रीमूलसंघ-देसियगण-पोस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वयद श्रीमतु नागचन्द्र-चान्द्रायण-देवरशिष्य---।''(१०७८ ई०/ हट्टण / ले.क्र.२१८)।

जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च./द्वितीय भाग) के लेख क्र.२२३ (१०८० ई०), २३२ (१०९३ ई०), २६९ (१११८ ई०), २७५ (११२० ई०), २८४ (११२३ ई०), २९३ (११३० ई०), २९४ (११३० ई०), ३०० एवं ३०१ (११३३ ई०) में भी कुन्द-कुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण तथा पुस्तकगच्छ का ही सम्बन्ध दिखाया गया है। १२८० ई० के चिकमगलूर एवं १३५५ ई० के मलेयूर अभिलेखों-सहित[४६] जैन-शिलालेख-संग्रह (मा.च.)भाग ३ के भी ४२ अभिलेखों में कुन्दकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है। नौवीं शताब्दी ई० से लेकर बारहवीं शताब्दी ई० तक के शिलालेखों में कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के साथ क्राणूरगण, तिन्त्रिणीकगच्छ एवं मेषपाषाणगच्छ का भी कथन है। यथा—

''श्रीकुण्डकुन्दान्वय-मूलसंघे क्राणूरगणे गच्छ-सु-तिन्त्रिणीके।' (१०७५ ई०)[४७]

''श्रीमूलसंघ-वियदमृतामळरुचि-रुचिर-कोण्डकुन्दान्वय-लक्ष्मी-महितं जिन-धर्म्मल-लामं क्राणूरगगणं जनानन्दकरम्।'' (१११७ ई.)[४८]

---

४४. वही / भा.२ / ले. क्र. १२७ / पृ.१४५, १४८।
४५. वही / भा.२ / ले. क्र. १८० / पृ.२२०।
४६. वही / भाग / ३ / ले. क्र.५२६, ५६१।
४७. वही / भा.२ / ले. क्र. २०९ / पृ.२६९।
४८. वही / भा.२/ ले. क्र. २६७ / पृ.३९३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"**श्रीमूलसंघद कोण्डकुन्दान्वयद क्राणूर्-गण मेषपाषाण-गच्छद श्रीमत्प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवरवर शिष्यरु।**" (११२१ ई०)[४९]

९९० ई० के एक शिलालेख में कुन्दकुन्दान्वय के साथ द्रविणसंघ का भी उल्लेख है—

"**द्रविळसंघद --- अद श्रीकोण्डकुन्दान्वयद त्रिकाल-मौनि-भट्टारकशिष्यर्** ---।" (लगभग ९९० ई०)[५०]

कुन्दकुन्दान्वय में वक्रगच्छ का भी अस्तित्व था। ११०० ई० के शिलालेख में कहा गया है—"**श्रीमूलसङ्घद देशीयगणद वक्रगच्छद कोण्डकुन्दान्वयद परियलिय वड्डदेवर बलिय।**"[५१]

ईसा की १२वीं शताब्दी में हुए आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार की प्रशस्ति में स्वयं को कुन्दकुन्दान्वय के गुरुओं का शिष्य बतलाया है—'**आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुन्दकुन्दसंताणे** ---।' यहाँ कुन्दकुन्दान्वय के साथ किसी संघ, गण या गच्छ का उल्लेख नहीं है।

इन शिलालेखीय और साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध है कि १०वीं शताब्दी ई० के पूर्व तक मूलसंघ में नन्दिसंघ, बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ, इनमें से किसी का भी अस्तित्व नहीं था। अतः इण्डियन-ऐन्टिक्वेरी-वाली पट्टावली में १०वीं शताब्दी ई० के पूर्व तक जितने आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं, वे नन्दिसंघ के नहीं थे। अतः नन्दिसंघ की पट्टावली यदि भट्टारक-परम्परा की पट्टावली मानी जाय, तो उपर्युक्त आचार्य भट्टारक-परम्परा के सिद्ध नहीं होते ।

वस्तुतः ऐसा हुआ है कि जैसे पंचस्तूपान्वय का मुनिसंघ ईसा की ९वीं शताब्दी में 'सेनसंघ' नाम से जाना जाने लगा,[५२] वैसे ही १२वीं शताब्दी ई० से कुन्दकुन्दान्वय का मुनिसंघ 'नन्दिगण' या 'नन्दिसंघ' के नाम से अभिहित होने लगा। कुन्दकुन्दान्वय में सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण का विकास तो १०वीं शती ई० में ही हो गया था, क्राणूर् आदि गण तथा वक्र, तिन्त्रिणीक, मेषपाषाण आदि गच्छ बाद में विकसित हुए । बारहवीं शताब्दी ई० से इस नन्दिसंघ में भट्टारकपरम्परा आरम्भ हो गयी । और तब भट्टारक भी अपने को कुन्दकुन्दान्वय, मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ

४९. वही / भा.२ / ले.क्र. २७७ / पृ.४१६।

५०. वही / भा.२ / ले.क्र. १६६ / पृ.२०७।

५१. वही / भा.१ / ले.क्र.५५ (६९) / पृ.१२२।

५२. सेनसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख उत्तरपुराण की प्रशस्ति में पाया जाता है। (प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारकसम्प्रदाय / पृ.२६)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आदि से सम्बद्ध घोषित करने लगे। इस प्रकार नन्दी आदि संघों का मुनियों और भट्टारकों, दोनों से सम्बन्ध था।

आचार्य अर्हद्बली के द्वारा मूलसंघ को नन्दी आदि संघों में विभाजित किये जाने की कथा काल्पनिक प्रतीत होती है, क्योंकि श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में ही इसके विषय में परस्परविरोधी उल्लेख मिलते हैं। १३९८ ई० के शिलालेख में[५३] कहा गया है कि मूलसंघ का चतुर्विध संघों में विभाजन अर्हद्बली ने किया था, जब कि १४३३ ई० का शिलालेख[५४] कहता है कि अकलंकदेव के दिवंगत होने के पश्चात् उनके अन्वय के मुनि अपने आप चार संघों में विभाजित हो गये।

वस्तुतः 'नन्दी' आदि संघ स्वयं विकसित हुए थे, क्योंकि पंचस्तूपान्वय, पुन्नाट, कुन्दकुन्दान्वयी-द्रविण आदि ऐसे संघों का अस्तित्व भी था, जो आचार्य अर्हद्बली द्वारा निर्मित नहीं बतलाये गये हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्णीत हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द नन्दिसंघ, बलात्कारगण तथा सरस्वतीगच्छ के विकसित होने के बहुत पहले उत्पन्न हुए थे,अतः वे नन्दिसंघ के आचार्य नहीं थे। इसलिए यदि नन्दिसंघ को भट्टारकसंघ माना जाये, तो कुन्दकुन्द भट्टारक सिद्ध नहीं होते।

२

नन्दिसंघीय पट्टावली केवल भट्टारक-परम्परा की पट्टावली नहीं

यद्यपि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-वाली नन्दिसंघीय पट्टावली में १०वीं शताब्दी ई० के पहले जिन आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, वे नन्दिसंघ, बलात्कारगण या सरस्वतीगच्छ के नहीं थे, तथापि उससे उत्तरवर्ती सभी आचार्य या पट्टधर भट्टारकसम्प्रदाय के थे, ऐसा नहीं मान लेना चाहिए । क्योंकि १० वीं शताब्दी ई० से भी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण में जिनलिंगधारी मुनि होते आये हैं। भट्टारक-परम्परा तो १२वीं शताब्दी ई० से आरंभ हुई थी। उसके साथ भी मुनिपरम्परा विरलरूप में चलती रही।[५५] किन्तु भट्टारक-परम्परा का वर्चस्व स्थापित हो जाने से १२वीं शताब्दी ई० से नन्दिसंघीय पट्टावली में भट्टारकसम्प्रदाय के ही उत्तराधिकारियों के नाम रखे गये हैं, क्योंकि जिन

---

५३. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र.१०५ (२५४) / श्लोक २६।

५४. वहीं / भा.१/ ले.क्र.१०८ (२५८)/ श्लोक १८-२१।

५५. जैसा कि पं० आशाधर जी ने कहा है—'**खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्**' अर्थात् खेद है कि सच्चे उपदेशक मुनि आज कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं (पं० नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास / द्वि.सं. / पृ.४८८ से उद्धृत)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पाँच पट्टावलियों के आधार पर इण्डियन-एण्टिक्वेरी-वाली पट्टावली तैयार की गई है, उनके रचयिता भट्टारक ही थे। प्रश्न उठता है कि १२वीं शताब्दी ई० से पूर्व के जो आचार्य नन्दिसंघ के थे ही नहीं, उनके नाम प्रस्तुत पट्टावली में क्यों रखे गये? इसका उत्तर यह है कि वे उसी कुन्दकुन्दान्वय में हुए थे, जिसमें उत्तरवर्ती मुनि और भट्टारक हुए थे। इस साम्य के कारण उन्हें भी प्रस्तुत पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में शामिल किया गया है। इसलिए उनके भी नाम प्रस्तुत पट्टावली में मिलते हैं। इस प्रकार इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-वाली नन्दिसंघ की पट्टावली में केवल भट्टारकों के नाम नहीं हैं,अपितु मुनियों के भी हैं।

३

मूलसंघीय मुनिवर्ग का ही 'नन्दी' आदि संघों में विभाजन

वस्तुतः नन्दी, सेन, देव, सिंह आदि संघ मूलतः मुनियों के ही संघ थे, इसका साहित्यिक प्रमाण यह है कि १०वीं शताब्दी ई० के आचार्य इन्द्रनन्दी ने, जब भट्टारक-परम्परा का उदय ही नहीं हुआ था, तब अपने 'श्रुतावतार' ग्रन्थ में लिखा है कि मूलसंघ के आचार्य अर्हद्बलि ने दिगम्बरमुनियों के मूलसंघ को नन्दी, सेन आदि संघों में विभाजित किया था।

'श्रुतावतार' में वे कहते हैं कि आचार्य अर्हद्बलि जब सौ योजन के भीतर रहनेवाले मुनियों को बुलाकर पाँच वर्षों की समाप्ति पर होनेवाला प्रतिक्रमण करा रहे थे, तब उन्होंने मुनिसमूह से पूछा— 'क्या सब मुनि आ गये हैं?'[५६] तब मुनियों ने उत्तर दिया,'हाँ, भगवन्! हम लोग अपने-अपने सम्पूर्ण संघ के साथ आ गये हैं।' यह सुनकर आचार्य अर्हद्बलि ने सोचा कि अब इस कलिकाल में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में संघ आदि के पक्षपात को लेकर ही जैनधर्म चलेगा।[५७] इसलिए उन्होंने जो मुनि गुफा से आये थे, उनको नन्दिसंघ और वीरसंघ में विभाजित किया।[५८] जो अशोक वृक्षों के उद्यान से आये थे, वे अपराजितसंघ और देवसंघ में विभक्त किये गये।[५९] पंचस्तूप-

५६. अथ सोऽन्यदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम्।
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतयः॥ ८८॥ श्रुतावतार।

५७. तेऽप्यूचुर्भगवन्वयमात्मात्मीयेन सकलसङ्घेन।
सममागतास्ततस्तद्वचः समाकर्ण्य सोऽपि गणी॥ ८९॥
काले कलावमुष्मिन्नितः प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम्।
गणपक्षपातभेदैः स्थास्यति नोदासभावेन॥ ९०॥ श्रुतावतार।

५८. इति सञ्चिन्त्य गुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु।
कांश्चिन्नन्द्यभिधानान् कांश्चिद्वीराह्वयानकरोत्॥ ९१॥ श्रुतावतार।

५९. प्रथितादशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु।
कांश्चिदपराजिताख्यान्कांश्चिद् देवाह्वयानकरोत्॥ ९३॥ श्रुतावतार।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निवास से आये मुनियों के भी दो संघ बनाये गये : सेनसंघ और भद्रसंघ तथा शाल्मली-महावृक्ष के मूल एवं खण्डकेसरवृक्ष के मूल से आये हुए मुनिसमूहों को भी क्रमशः गुणधर, गुप्ति, सिंह और चन्द्र, इन चार संघों में बाँटा।[६०] इस प्रकार आचार्य अर्हद्बलि 'नन्दी' आदि विभिन्न मुनिसंघों के प्रवर्तक थे—"**एवं तस्यार्हद्बलेर्मुनिजनसङ्घ-प्रवर्तकस्य--।**"[६१]

श्रवणबेलगोल के पूर्वोद्धृत १३९८ ई० के स्तम्भलेख में भी कहा गया है कि अर्हद्बलि ने कुन्दकुन्दान्वय के मूलसंघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह संघों में विभक्त किया था। वहीं के एक अन्य पूर्वोद्धृत १४३३ ई० के शिलालेख में वर्णित है कि भट्ट अकलंकदेव के दिवंगत हो जाने के बाद उनके अन्वय के मुनियों में यह चतुर्विध संघभेद हुआ था।

ये साहित्यिक और शिलालेखीय उल्लेख इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि 'नन्दी' आदि संघ मूलतः मुनियों के ही संघ थे। आगे चलकर जब ईसा की १२वीं शताब्दी में इन संघों के कतिपय मन्दिर-मठवासी दिगम्बरमुनि 'दिगम्बरमुनियों' के समान पिच्छीकमण्डलु रखते हुए, अजिनोक्त (जिनेन्द्र द्वारा अनुपदिष्ट) सवस्त्र साधुलिंग धारण कर दिगम्बरजैन गृहस्थों के धर्मगुरु की भूमिका निभाने लगे, तब इन संघों में भट्टारक-परम्परा भी चल पड़ी। इस कारण इन संघों की पट्टावलियों में मुनियों और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी भट्टारकों, दोनों के नाम मिलते हैं।

ये पट्टावलियाँ उपर्युक्त भट्टारकों द्वारा ही रचित हैं, क्योंकि इनमें अन्तिम नाम भट्टारक का ही है, तथापि पट्टावलीकारों ने द्वितीय भद्रबाहु, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, लोहाचार्य आदि को मुनिपुङ्गव, पूर्वपदांशवेदी, मुनिचक्रवर्ती, महामुनि, जातरूपधर, सत्संयम से चारणऋद्धि प्राप्त करनेवाले आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[६२] इससे सिद्ध है कि स्वयं भट्टारकपरम्परा इन आचार्यों को परम दिगम्बरमुनि मानती थी। अतः पट्टावलीकार भट्टारकों ने इनका अपने पूर्वज जिनलिंगधारी महामुनियों के रूप में ही पट्टावलियों में सादर उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि नन्दिसंघ की पट्टावलियों में केवल भट्टारकों के नाम नहीं हैं, अपितु मुनियों के भी हैं।

---

६०. श्रुतावतार / कारिका ९३-९४।

६१. वही / कारिका १०१।

६२. क—इसी अध्याय के अन्त में **विस्तृत सन्दर्भ** के अन्तर्गत 'प्रथम शुभचन्द्रकृत गुर्वावली' देखिए।

ख—"श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।" जैन-शिलालेख-संग्रह/ माणिकचन्द्र / भाग १/ ले. क्र.४०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यदि उन्हें केवल भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावलियाँ माना जाय, तो उनमें तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य उमास्वाति का भी नाम है, वे भी भट्टारक सिद्ध होंगे। किन्तु यह आचार्य हस्तीमल जी को स्वीकार्य नहीं होगा, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में उमास्वाति मुनिपद के सम्मान से विभूषित वाचकपदधारी साधु माने गये हैं। उन्हें वे मुनिपद के सम्मान से रहित, गृहस्थों का कर्मकाण्ड करानेवाला, दक्षिणाग्राही, जीविकोपार्जक, मठवासी, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारक कैसे मान सकते हैं? तथा 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol.XX, p p. 344-347) में जो प्राकृत-पट्टावली दी गई है, वह भी नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ की पट्टावली है। उसमें गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी, इन केवलियों और श्रुतकेवली भद्रबाहु के भी नाम हैं। वे भी उपर्युक्त प्रकार के अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगी भट्टारक सिद्ध होंगे। यह भी आचार्य हस्तीमल जी को मान्य नहीं होगा, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा भी उन्हें केवली और श्रुतकेवली ही मानती है। केवली और श्रुतकेवली को तो उपर्युक्त प्रकार का भट्टारक मानने की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि नन्दिसंघ की पट्टावलियाँ केवल भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावलियाँ नहीं हैं, उनमें जिनलिंगी मुनि भी सम्मिलित हैं। अतः 'दि इण्डियन एण्टिक्वेरी' में अँगरेजी में छपी तालिकाबद्ध नन्दिसंघीय पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम होने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि वे भट्टारकपरम्परा के पट्टाधीश थे। वे जिनलिंगधारी आगमानुकूल चर्या करनेवाले दिगम्बराचार्य थे।

यदि नन्दिसंघ की पट्टावलियों को भट्टारकपरम्परा की पट्टावलियाँ मानकर यह कहा जाय कि उमास्वामी तो श्वेताम्बर थे, उन्हें बलात् नन्दिसंघ की पट्टावलियों में शामिल कर लिया गया है, तो यह भी कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द भट्टारक नहीं थे, उन्हें बलात् भट्टारकपरम्परा की पट्टावलियों में दर्शा दिया गया है। इस प्रकार उक्त तर्क से यही सिद्ध होगा कि कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय के नहीं थे।

४

इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आरंभ में कुन्दकुन्दान्वय शब्द ही प्रचलित था और नन्दिसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, वक्रगच्छ, बलगारगण (बलात्कारगण), सरस्वतीगच्छ, क्राणूरगण, तिन्त्रिणीकगण, मेषपाषाणगण, द्रविणगण (द्रमिळगण) आदि का विकास कुन्द-कुन्द के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ, तब ये कुन्दकुन्दान्वय के साथ कैसे जुड़े? इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट है कि इनका विकास कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था, इसलिए उसके साथ इनका जुड़ना स्वाभाविक था। कुन्दकुन्दान्वय में ही इनके विकसित होने के उल्लेख भी मिलते हैं। चिदरवल्लि (कर्नाटक) के निम्नलिखित

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कन्नड़ शिलालेख (समय अंकित नहीं है) से सूचित होता है कि देशिक-(देशीय)-गण कोण्डकुन्दान्वय से उत्पन्न हुआ था—"**अय महित-कोण्डकुन्दान्वय-सम्भवदेशि-काख्य-गणदोल् गुणिगळु ।**" (जै. शि. सं. / मा. च. / भा. ३ / ले. क्र. ८३४)।

श्रवणबेलगोल के पूर्वोद्धृत १३९८ ई० के स्तम्भलेख (१०५(२५४)) में भी कहा गया है कि आचार्य अर्हद्बलि ने कुन्दकुन्दान्वय नामक मूलसंघ को नन्दी आदि चार संघों में विभाजित किया था—'**अर्हद्बलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घं ।**'

किन्तु इसमें मूलसंघीय कुन्दकुन्दान्वय को अर्हद्बलि द्वारा विभाजित किये जाने का कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अर्हद्बलि को सभी पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। तथापि उक्त कथन से यह तथ्य अवश्य प्रकाशित होता है कि नन्दिसंघ का विकास कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था। निम्नलिखित शिलालेख में कथन है कि कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति मुनीश्वर आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे—

श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जात-सुचारणार्द्धिः॥ ४॥

अभूदुमास्वाति – मुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्त्थवेदी॥ ५॥[६३]

श्रवणबेलगोल के शक सं० १०८५ (११६३ ई०) में उत्कीर्ण स्तम्भाभिलेख में श्रुतकेवली भद्रबाहु के अन्वय में चन्द्रगुप्त को, चन्द्रगुप्त के अन्वय में कुन्दकुन्द को और कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति, बलाकपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, अकलंकदेव आदि अनेक आचार्यों को उत्पन्न बतलाया गया है।[६४]

'जैन-शिलालेख-संग्रह' (मा.च.) के प्रथम-भागान्तर्गत लेख क्र. ५४, ५५, १०५ एवं १०८ और तृतीयभाग के विजयनगर-लेख क्र. ५८५ में भी कुन्दकुन्दान्वय के अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं।

४६६ ई० के मर्करा-ताम्रपत्राभिलेख में कुन्दकुन्दान्वय-प्रसूत, गुणचन्द्र-भटार आदि छह आचार्यों का वर्णन है।

---

६३. जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र. ४७ (१२७) / शक सं. १०३७ (१०१५ ई.)।

६४. वही / भा.१ / लेख क्र. ४० (६४)। मूलपाठ इसी अध्याय के अन्त में **विस्तृत सन्दर्भ** में देखिए।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त 'नन्दी' आदि संघ-गण-गच्छों का विकास मूलसंघीय कुन्दकुन्दान्वय में ही हुआ था, अतः 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रो० हार्नले द्वारा प्रकाशित नन्दिसंघ या सरस्वतीगच्छ की पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है।

उपर्युक्त प्रतिपादन का सार इस प्रकार है।

१. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का, इसलिए आचार्य हस्तीमल जी ने इन शब्दों का प्रयोग मानकर 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी'-वाली पट्टावली को जो भट्टारकपरम्परा की मूल पट्टावली मान लिया है, वह उनका महान् भ्रम है।

२. कुन्दकुन्दान्वय में नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ का विकास कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) से ग्यारह सौ वर्षों बाद हुआ था, अतः वे नन्दिसंघ के नहीं थे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारकपट्टावली मान लेने पर भी वे भट्टारक सिद्ध नहीं होते।

३. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है। उसमें दिगम्बराचार्यों के भी नाम हैं और मुनिश्रावकेतरलिंगी 'भट्टारकों' के भी। इसलिए भी उसे केवल नन्दिसंघ के भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली मान लेना महाभ्रान्ति है।

आगे 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली में निर्दिष्ट उन तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ, जिनसे पट्टावली स्वयं ही आचार्य हस्तीमल जी के उपर्युक्त मत को मिथ्या सिद्ध करती है।

५

कुन्दकुन्द भट्टारकप्रथा के बीजारोपण से पूर्ववर्ती

आचार्य जी ने कहा है कि भद्रबाहु-द्वितीय से आरंभ होनेवाली नन्दिसंघ की पूर्वोद्धृत पट्टावली 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' के आधार पर इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गई है और भट्टारकपरम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्ष काल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचने के लिए उसके आचार्यों की नामावली बड़ी सहायक सिद्ध होगी। (देखिए, द्वितीय प्रकरण का शीर्षक १)। **अर्थात् आचार्य जी की दृष्टि में नन्दिसंघ की पूर्वोद्धृत पट्टावली प्रामाणिक है।** यद्यपि आचार्य जी के कथन में इतना संशोधन आवश्यक है कि नन्दिसंघ की पूर्वोक्त पट्टावली 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' के आधार पर इतिहास के विद्वानों

द्वारा तैयार नहीं की गई है, अपितु प्रो० हार्नले को राजस्थान से जो नन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ की पट्टावलियाँ प्राप्त हुई थीं, उनके समन्वित रूप को एक तालिका में निबद्ध कर अपनी टिप्पणियों के साथ, उन्होंने 'दि इण्डियन एण्टीक्वेरी' नामक शोधपत्रिका (रिसर्च जर्नल) में प्रकाशित कराया था। आचार्य हस्तीमल जी द्वारा पूर्वोद्धृत नन्दिसंघ की पट्टावली उसी का हिन्दी रूप है। आचार्य हस्तीमल जी ने उसे भट्टारकपरम्परा के उद्भव-विकास-उत्कर्षकाल आदि के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजन-समाधानकारी निर्णय पर पहुँचाने में सहायक मानकर उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है। **यही प्रामाणिक पट्टावली बतला रही है कि आचार्य कुन्दकुन्द भट्टारकप्रथा के बीजवपन से पूर्व अर्थात् विक्रम संवत् ४९ (ईसापूर्व ८वें वर्ष) में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो गये थे।** और आचार्य हस्तीमल जी की कल्पना के अनुसार भट्टारकप्रथा के प्रथम स्वरूप का आरंभ वीर नि० सं० ६४०, तदनुसार ई० सन् ११३ के लगभग हुआ था। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द भट्टारक-परम्परा के बीजारोपण से पूर्व ही आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। अतः आचार्य जी ने उन्हें जो भट्टारकसम्प्रदाय का पट्टाधीश मान लिया है, वह उक्त पट्टावली में निर्दिष्ट इस तथ्य से ही मिथ्या सिद्ध हो रहा है।

६

कुन्दकुन्द को ५वीं शती ई० में मानने पर सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या

किन्तु विडम्बना यह है कि आचार्य हस्तीमल जी उक्त पट्टावली को एक ओर जहाँ भट्टारक-परम्परा के विकासकाल के विषय में युक्तिसंगत निर्णय पर पहुँचानेवाली मानते हैं, वहीं दूसरी ओर उसमें बतलाये गये कुन्दकुन्द के पट्टकाल को युक्तिसंगत नहीं मानते।[६५] उनकी मान्यतानुसार कुन्दकुन्द का काल वीर नि० सं० १००० अर्थात् विक्रम संवत् ५३० (४७३ ई०) के लगभग है।[६६] ऐसा मानने पर वह 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में बतलाये गये पट्टारोहणकाल वि० सं० ४९ से ४८१ वर्ष आगे चला जाता है। इस स्थिति में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, क्योंकि पट्टवली में दर्शायी गयी पट्टपरम्परा एक-दूसरे पट्टधर से जुड़ी हुई है और प्रत्येक पट्टधर का पट्टकाल भी निश्चित है, जिससे पूर्वापर पट्टधरों के बीच का कालान्तराल सुनिश्चित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है—

---

६५. जैनधर्म का मौलिक इतिहास / भाग३ / पृ.१४२।

६६. विस्तृत विवरण दशम अध्याय के तृतीय प्रकरण में द्रष्टव्य है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पट्टधर	इण्डि०एण्टि० पट्टावली में पट्टारोहणवर्ष (विक्रमसंवत्)	कालान्तराल (पूर्वपट्टधर का पट्टारोहणवर्ष एवं पट्टस्थवर्ष)	आ० हस्तीमल जी के मतानुसार बढे हुए वर्ष	आ० हस्तीमल जी के अनुसार पट्टा-रोहण वर्ष (विक्रम संवत्)	कालान्तराल (पूर्व पट्टधर का पट्टारोहणवर्ष एवं पट्टस्थवर्ष)
१	२	३	४	५	६
१. भद्रबाहु (द्वितीय)	४		४८१	४८५	
२. गुप्तिगुप्त	२६	(४+२२)	४८१	५०७	(४८५+२२)
३. माघनन्दी (प्रथम)	३६	(२६+१०)	४८१	५१७	(५०७+१०)
४. जिनचन्द्र (प्रथम)	४०	(३६+४)	४८१	५२१	(५१७+४)
५. कुन्दकुन्द	४९	(४०+९)	४८१	५३०	(५२१+९)
६. उमास्वामी	१०१	(४९+५२)	४८१	५८२	(५३०+५२)
७. लोहाचार्य (द्वितीय)	१४२	(१०१+४१)	४८१	६२३	(५८२+४१)

(शेष पट्टधरों के नाम आदि इसी अध्याय के 'विशेष सन्दर्भ' में उद्धृत इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में द्रष्टव्य हैं।)

उपर्युक्त तालिका में तीसरे और छठे कालम में कोष्ठक के भीतर धनचिह्न के पूर्व की संख्या पूर्वोल्लिखित (अपने से ऊपर दर्शाये गये) पट्टधर के पट्टारोहणवर्ष को तथा बाद की संख्या उसके पट्टस्थवर्षों को सूचित करती है। पूर्वोल्लिखित पट्टधर का पट्टकाल (पट्टस्थवर्ष) उसके तथा उत्तरोल्लिखित पट्टधर के बीच का निश्चित कालान्तराल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ने पर उनके आगे-पीछे के सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, तभी प्रत्येक पट्टधर का पट्टकाल अर्थात् पूर्वापर पट्टधरों के बीच का कालान्तराल यथावत् रहता है। किन्तु ४८१ वर्ष आगे बढ़े हुए काल में उन पट्टधरों का अस्तित्व ही नहीं था। उदाहरणार्थ, वि० सं० ४८५ में भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्व

नहीं था, वे उसके ४८१ वर्ष पूर्व वि० सं० ४ में पट्टधर हो चुके थे। वि० सं० ५०७ में गुप्तिगुप्त विद्यमान नहीं थे, वे उसके ४८१ वर्ष पूर्व वि० सं० २६ में पट्टारूढ़ हो चुके थे। माघनन्दी प्रथम वि० सं० ५१७ के ४८१ वर्ष पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये थे। आचार्य जिनचन्द्र प्रथम वि० सं० ५२१ में जीवित नहीं थे। तथा **दि इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली** में क्रमांक ९ से २६ तक के जिन यशोनन्दी आदि १८ पट्टधरों को भद्दलपुर का पट्टधर बतलाया गया है, उनका पट्टकाल विक्रमसंवत् ६४२ को पार कर जाता है, जब भद्दलपुर के पट्ट का अस्तित्व ही नहीं रह गया था। भद्दलपुर के पट्ट पर वि० सं० ६४२ के बाद कोई आसीन नहीं हुआ। २६वें आचार्य मेरुकीर्ति वि० सं० ६४२ में भद्दलपुर के पट्ट पर बैठनेवाले अन्तिम आचार्य थे। उनके बाद भद्दलपुर का पट्ट पट्टावली के अनुसार समाप्त हो गया।

उपर्युक्त १८ आचार्य अन्य स्थानों के पट्टधर हों, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि २६ वें पट्टधर मेरुकीर्ति (विक्रम संवत् ६४२-६८६) के पश्चात् भद्दलपुर की पट्टपरम्परा समाप्त हो गई। उनके शिष्य महाकीर्ति विक्रम सं० ६८६ में उज्जयिनी के पट्ट पर बैठे। उनसे उज्जयिनी की पट्टपरम्परा प्रारंभ हुई। उनके बाद विष्णुनन्दी आदि अन्य १७ आचार्य उज्जयिनी के पट्टधर हुए, जिनमें अन्तिम माघचन्द्र का पट्टकाल वि० सं० ९९० से १०२३ था। उनके बाद उज्जयिनी की पट्टपरम्परा का भी अन्त हो गया और उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र वि० सं० १०२३ में चन्देरी के पट्ट पर आसीन हुए। इस पट्ट के अन्तिम आचार्य लोकचन्द्र वि० सं० १०६६ से १०७९ तक पट्टधर रहे और उनके बाद उनके शिष्य श्रुतकीर्ति वि० सं० १०७९ में विदिशा के पट्टधश हुए। विदिशा के अन्तिम पट्टधर महाचन्द्र के शिष्य माघचन्द्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) के पट्ट पर बैठे। उनके शिष्य ब्रह्मनन्दी बाराँ के पट्टधर हुए। बाराँ के अन्तिम पट्टधर सिंहकीर्ति थे, जिनके शिष्य हेमकीर्ति को ग्वालियर का पट्ट प्राप्त हुआ। ग्वालियर के अन्तिम पट्टधर वसन्तकीर्ति (वि० सं० १२६४) हुए।[६७] उनके शिष्य प्रख्यातकीर्ति या विशालकीर्ति अजमेर के पट्टधर बने। प्रभाचन्द्र इस पट्ट के अन्तिम अधिकारी थे। उनके शिष्य पद्मनन्दी को दिल्ली का पट्ट प्राप्त हुआ, जिस पर क्रमशः शुभचन्द्र और जिनचन्द्र आसीन हुए।[६८]

---

६७. भट्टारक सम्प्रदाय / पृ.९३।

६८. "श्रीबलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीमहि (नन्दि) संघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीवसन्त-कीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीविशालकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीदमनकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीधर्मचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्री रत्नकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीपद्मनन्दिदेवाः तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवाः॥" भट्टारकसम्प्रदाय / निषीदिकालेख / लेखांक २४४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इनके पश्चात् पट्ट दो भागों में विभक्त हो गया। एक गद्दी नागौर में स्थापित हुई और दूसरी चित्तौड़ में। जिनचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र वि० सं० १५७१ में चित्तौड़ के पट्टधर हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य धर्मचन्द्र को यह पट्ट प्राप्त हुआ।[६९] उनके बाद अन्य १४ पट्टधर इस पट्ट पर आसीन हुए। जिनचन्द्र के अन्य शिष्य रत्नकीर्ति वि० सं० १५८१ में नागौर के प्रथम पट्टधर बने।[७०] तदनन्तर भुवनकीर्ति आदि अन्य २५ भट्टारकों ने यह पद प्राप्त किया।

नागौर के पट्टधरों में २३ वें हेमकीर्ति वि० सं० १९१० में पट्टपर आसीन हुए थे। उनके बाद क्षेमेन्द्रकीर्ति, मुनीन्द्रकीर्ति और कनककीर्ति ये तीन और उस पद पर आरूढ़ हुए। इन चारों का पट्टकाल यदि दस-दस वर्ष माना जाये तो पूर्वोद्धृत 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली के अन्तिम पट्टधर का काल वि० सं० १९५० में पूर्ण होता है।

इससे स्पष्ट है कि यशोनन्दी आदि १८ आचार्य किसी अन्य स्थान के पट्टधर नहीं थे, भद्दलपुर के ही थे, किन्तु उनका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने से उस काल में पहुँच जाता है, जब भद्दलपुर के पट्ट का अस्तित्व ही बाकी नहीं था। इसके अतिरिक्त आचार्य हस्तीमल जी द्वारा उद्धृत इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में चित्तौड़पट्ट और नागौरपट्ट के ३९ पट्टधरों का पट्टारोहणकाल वि० सं० १५८६ (ई० सन् १५२९) से लेकर वि० सं० १९४० (ई० सन् १८८३) तक निर्दिष्ट है। (देखिये, अध्याय ८ / प्र.२ / शी.१)। इन सबका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने पर इनका अभी (ई० सन् २००८ में) जन्म लेना ही घटित नहीं होता। इससे सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या हो जाता है, क्योंकि वे उस काल में ढूँढ़े नहीं मिलते।

आचार्य हस्तीमल जी द्वारा पूर्वोद्धृत 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' की पट्टावली के हिन्दी अनुवाद में जिन मुनियों और भट्टारकों के नाम वर्णित हैं, उनमें से ८५ पट्टधरों (शुभचन्द्र, वि० सं० १४५० तक) का उल्लेख नन्दिसंघ की प्रथम-शुभचन्द्रकृत गुर्वावली[७१] तथा

---

६९. "श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये ....भ० श्रीजिनचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तच्छिश्यमण्डलाचार्य-श्रीधर्मचन्द्रदेवाः ---।" नागकुमारचरित / भट्टारकसम्प्रदाय / लेखांक २६७।

७०. क—"इस (नागौर) शाखा का आरंभ भ० (भट्टारक) रत्नकीर्ति से होता है। आप भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे ---। आपका पट्टाभिषेक संवत् १५८१ की श्रावण शु० ५ को हुआ ---।" भट्टारकसम्प्रदाय / पृष्ठ १२१।
ख—"श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिदेव तत्पट्टे भ० श्रीशुभचन्द्रदेव तत्पट्टे भ० श्रीजिणचन्द्रदेव मुनि-मण्डलाचार्य-श्रीरत्नकीर्तिदेव ---।" (अणुव्रतरत्नप्रदीप / भट्टारकसम्प्रदाय / लेखांक २७९)।

७१. मूलपाठ इसी अध्याय के अन्त में **विस्तृत सन्दर्भ** में द्रष्टव्य है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एक अज्ञातकर्तृक विरुदावली[७२] में भी है। शेष नाम प्रो० जोहरापुरकर द्वारा अपने ग्रन्थ 'भट्टारकसम्प्रदाय' में उद्धृत पट्टावलियों में उपलब्ध होते हैं। इसलिए उनमें से किसी भी नाम की वास्तविकता का निषेध नहीं किया जा सकता। अत: आचार्य हस्तीमल जी की उपर्युक्त मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। युक्तियुक्त न होने से प्रामाणिक नहीं है। पट्टावली में कुन्दकुन्द को वि० सं० ४९ अर्थात् ईसा- पूर्व ८ में पट्टारूढ़ बतलाया गया है। इसी काल में उनको पट्टारूढ़ मानने पर पट्टावली में वर्णित १२८ मुनियों और भट्टारकों का वि० सं० १९५० (ई० सन् १८९३) तक अपने-अपने निर्दिष्टकाल पर्यन्त पट्टारूढ़ होना उपपन्न होता है। अत: कुन्दकुन्द का इसी समय में पट्टारूढ़ होना युक्तियुक्त है, अत एव वह प्रामाणिक ठहरता है। अन्य साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाणों से भी यही काल निश्चित होता है, उन प्रमाणों का वर्णन दशम अध्याय में किया जायेगा। इस प्रकार जिस समय कुन्दकुन्द आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे, उस समय भट्टारकपरम्परा का बीजारोपण ही नहीं हुआ था, तब वे भट्टारकसम्प्रदाय के पट्टधर कैसे हो सकते हैं? यह नितान्त असंभव है। अत: आचार्य हस्तीमल जी ने जो यह उद्भावना की है कि कुन्दकुन्द भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, वह सर्वथा अयुक्तियुक्त है, अतएव अप्रामाणिक है।

७

माघनन्दी आदि का पट्टधर होना अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं

' दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली जिन पट्टावलियों पर आधारित है, उनके अतिरिक्त नन्दिसंघ की अन्य किसी भी पट्टावली में यह उल्लेख नहीं है कि भद्रबाहु-द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि भद्दलपुर या अन्य किसी स्थान के पट्टधर थे। प्रमाण के लिए प्रथम-शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली एवं अज्ञातकर्तृक विरुदावली द्रष्टव्य हैं।[७३] श्रुतसागरसूरि (१५ वीं शताब्दी ई०) स्वयं भट्टारक थे। उन्होंने कुछ भट्टारकों को तो देशविशेष का पट्टधर बतलाया है,[७४]

---

७२. नन्दिसंघ की अज्ञातकर्तृक विरुदावली व्यारा (सूरत) के शास्त्रभण्डार में हस्तलिखित रूप में मिली थी, जिसे 'जैनमित्र' के १९ जून १९२४ ई० के अंक में प्रकाशित किया गया था। इसका मूलपाठ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री-कृत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' (खण्ड ४ पृ. ४३०-४४१) में अवलोकनीय है।

७३. देखिए, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'/ खण्ड ४/ पृ.३९३-३९९ एवं ४३०-४४१ एवं ४३०-४४१ तथा प्रस्तुत अध्याय के अन्त में **विस्तृत सन्दर्भ**।

७४. "गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दि-प्रार्थनया-।" श्रुतसागरसूरिकृत व्याख्या / यशस्तिलकचम्पू / तृतीय आश्वास / अन्तिम अनुच्छेद / पृ० ६२१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किन्तु कुन्दकुन्द को किसी भी देश (स्थान) का पट्टधर नहीं कहा, उन्हें उनके गुरु जिनचन्द्रसूरि के पट्ट को अलंकृत करनेवाला ही कहा है।[७५] इससे स्पष्ट होता है कि भद्रबाहु-द्वितीय आदि दिगम्बराचार्यों के साथ 'भद्दलपुर का पट्टधर' विशेषण जोड़ने का कार्य उन भट्टारक-पट्टावलीकारों का है, जिनकी पट्टावलियों पर 'दि इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' की पट्टावली आधारित है। नन्दिसंघ के भट्टारकों ने भट्टारक होने पर भी अपनी प्राचीनता और पूज्यकुलोत्पन्नता दर्शाने के लिए दिगम्बराचार्य भद्रबाहु-द्वितीय आदि को अपना पूर्वपुरुष बतलाया है। 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों के कर्त्ता-महोदय भी भट्टारक थे। उन्होंने कुछ आगे बढ़कर अपने मठाधीशत्व को आगमसम्मत सिद्ध करने के लिए द्वितीय भद्रबाहु आदि पूर्वपुरुषों के साथ भी 'भद्दलपुर का पट्टधर' विशेषण जोड़ दिया है। किन्तु अन्य किसी भी पट्टावली, शिलालेख या प्राचीन ग्रन्थ में उक्त दिगम्बराचार्यों के भद्दलपुर या अन्य स्थान का पट्टधर होने का उल्लेख नहीं है। अतः 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' की पट्टावली का वह उल्लेख अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं होता। आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के लिए 'भद्दलपुर-पट्टधर' शब्द के भट्टारकीय मनगढ़ंत प्रयोग के आधार पर उन्हें भट्टारक घोषित कर दिया है। उन्हें यथार्थतः भट्टारक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द स्थानविशेष के पट्टधर होने की गृहस्थतुल्य प्रवृत्ति से कोसों दूर, आगमोक्त मुनिचर्या का अक्षरशः पालन करनेवाले दिगम्बराचार्य थे।

---

७५. इति श्रीपद्मनन्दि-कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रगीवाचार्यैलाचार्य-गृद्धपिच्छाचार्य-नामपञ्चक-विराजितेन सीमन्धरस्वामिज्ञानसम्बोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे ---।'' श्रुतसागरटीका / अन्तिम अनुच्छेद / दंसणपाहुड / गा.३६ / पृ० ५०।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चतुर्थ प्रकरण

भट्टारकसम्प्रदाय का असाधारण लिंग और प्रवृत्तियाँ

सम्प्रदायविशेष (विशिष्ट वेश और कर्मवाले धर्मगुरु-समुदाय) के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इस शब्द का मूल अर्थ 'पूजनीय' एवं 'विद्वान्' है। अतः जिस भी व्यक्ति के साथ 'भट्टारक' विशेषण जुड़ा हुआ हो, उसे भट्टारकसम्प्रदाय का व्यक्ति मान लेने की भूल न कर ली जाय। यह ध्यान रखना होगा कि सम्प्रदायविशेष के अर्थ में 'भट्टारक' संज्ञा शास्त्रोक्त नहीं है। किसी भी शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि 'इस' प्रकार के वेश और प्रवृत्तियोंवाले पुरुष को भट्टारक-सम्प्रदाय का व्यक्ति मानना चाहिए। विशेष प्रकार के लिंग (वेश) और प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए यह संज्ञा अपने-आप रूढ़ हुई है। तब यह सुनिश्चित करना होगा कि 'पूजनीय' और 'विद्वान्' अर्थ से भिन्न अर्थ में कैसे लिंग और प्रवृत्तियोंवाले पुरुषसमूह के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रसिद्ध हुई है? यह सुनिश्चित होने पर कि अमुक लिंग और अमुक प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए भट्टारक नाम रूढ़ हुआ है, केवल उन्हें ही भट्टारकसम्प्रदाय का कहा जा सकता है, अन्यों को नहीं, भले ही उनकी कुछ प्रवृत्तियाँ भट्टारकसम्प्रदाय के पुरुषों की प्रवृत्तियों से मिलती हों। यदि उन्हें भी हम एक-दो प्रवृत्तियों की समानता के कारण भट्टारकसम्प्रदाय का मानने लगें, तो हम सम्प्रदाय-विशेष के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द के प्रचलन का इतिहास सुनिश्चित नहीं कर पायेंगे। आगे यही सुनिश्चित किया जा रहा है कि सम्प्रदायविशेष के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द कैसे लिंग और कैसी प्रवृत्तियोंवाले पुरुषों के लिए किस काल में रूढ़ हुआ है।

१

'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों का सूचक

संस्कृतसाहित्य में 'भट्टार' और 'भट्टारक' शब्दों का प्रयोग सम्मानसूचक उपाधि के रूप में हुआ है, जिससे श्रद्धास्पदता या पूज्यता द्योतित होती है। यथा—

'भट्टारहरिश्चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।' [७६]

अर्थात् माननीय हरिश्चन्द्र का गद्यकाव्य नृप के समान आचरण करता है।

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के गुप्तवंशी नरेश कुमारगुप्त के सिक्कों पर उन्हें **परमभट्टारक** उपाधि से विभूषित किया गया है।[७७]

७६. बाणभट्ट : 'हर्षचरित'/ उच्छ्वास १/ श्लोक १२।
७७. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : कसायपाहुड / प्रस्तावना / भा.१ / पृ.५६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४३३ ई० (गुप्तकाल वर्ष ११३) के मथुरा-शिलालेख में भी कुमारगुप्त के नाम के पूर्व **परमभट्टारक** उपाधि जोड़ी गई है। यथा—"**परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य** ---।" (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.९२)।

८६० ई० के कोन्नूर-शिलालेख में महाराज अमोघवर्ष के साथ **परमभट्टारक** उपाधि का प्रयोग है—"**परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीपृथ्वीवल्लभ-श्रीमदमोघवर्ष** --- **श्रीवल्लभनरेन्द्रदेवः**।" (जै.शि.सं./मा.च./भा.२/ले.क्र.१२७)।

दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय में ये दोनों उपाधियाँ तीन अर्थों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं—१. आदर या पूज्यता, २. विद्वत्तादि गुण तथा ३. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी, दिगम्बरजैन नवोदित धर्मगुरु।

पूज्यता या आदरसूचक अर्थ में भट्टारक शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—

"**भट्टान् पण्डितान् आरयति प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारकः**।" (जिन-सहस्रनामटीका ३/३२)।

अर्थात् जो मुनि भट्टों (पण्डितों) को स्याद्वाद के द्वारा वस्तुतत्त्व की परीक्षा के लिए प्रेरित करते हैं, वे भट्टारक कहलाते हैं।

पूज्यतासूचक उपाधि के रूप में 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग वीरसेन स्वामी ने भगवान् महावीर, गणधर इन्द्रभूति, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी, आचार्य गुणधर आदि के लिए किया है, यथा, **महावीरभडारएण** (महावीर-भट्टारकेन), **इंदभूदिभडारओ** (इन्द्रभूतिभट्टारकः), **सुहम्मभडारओ** (सुधर्मभट्टारकः), **जंबूसामिभडारओ** (जम्बूस्वामि-भट्टारकः)[७८] **गुणहरभडारएण** (गुणधरभट्टारकेन)।[७९] शक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) के मर्करा-ताम्रपत्र में दिगम्बर मुनियों के लिए **भटार** शब्द का प्रयोग हुआ है जो पूज्यता-सूचक है।[८०]

आचार्य इन्द्रनन्दी ने 'नीतिसार' के निम्नलिखित श्लोक में 'भट्टारक' शब्द को विद्वत्तादि-गुणसूचक-उपाधि का वाचक बतलाया है—

सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्धकः।
महातपः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥ १८॥

---

७८. जयधवला / कसायपाहुड / भाग १ / गाथा १ / अनुच्छेद ६४ / पृष्ठ ७५-७७।

७९. वही / अनुच्छेद १/ पृष्ठ ४।

८०. देखिए, दशम अध्याय / प्रथम प्रकरण / शीर्षक ११।

अनुवाद—"सभी शास्त्रों और कलाओं के ज्ञाता, नाना गच्छों के अभिवर्धक, प्रभावशाली, महातपस्वी को भट्टारक कहते हैं।

वस्तुतः भट्ट, भट्टार और भट्टारक ये लौकिक उपाधियाँ हैं, जो जैन-जैनेतर सभी भारतीय सम्प्रदायों में आदर-पूज्यता एवं विद्वत्ता-पाण्डित्य आदि गुणों को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त की गई हैं। विद्वत्तादि-गुणों के सूचनार्थ ये उपाधियाँ राजाओं या विद्वत्परिषदों के द्वारा प्रदान की जाती थीं। **भट्ट नारायण, भट्ट लोल्लट, भट्ट अकलंक, भट्टार हरिश्चन्द्र, भट्टारक वीरसेन स्वामी** ऐसी ही (विद्वत्तादिगुणसूचक) उपाधियाँ हैं। **महावीरभडारयेण** (महावीर-भट्टारकेन) और **परमभट्टारक-महाराजाधिराज अमोघवर्ष**, इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि 'भट्टारक' या 'परमभट्टारक' उपाधि पूज्यता-सूचनार्थ जैन-जैनेतर सभी सम्प्रदायों में प्रयुक्त हुई है।

किन्तु, १२ वीं शताब्दी ई० से 'भट्टारक' शब्द दिगम्बरजैनपरम्परा में ऐसे नवोदित धर्मगुरुओं के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिनका लिंग (वेश) दिगम्बरजैन मुनियों जैसा न होकर लौकिक साधुओं जैसा था। वे जैनेतर साधुओं के समान लुंगी-चादर धारण करते थे और दिगम्बरजैन साधुओं के समान पिच्छी-कमण्डलु रखते थे इसलिए उनका लिंग (वेश) साधुओं के समान था, किन्तु वह दिगम्बरजैन साधु का लिंग नहीं था, इसलिए जिनोक्त नहीं था, अपितु अजिनोक्त (जिनेन्द्र द्वारा अनुपदिष्ट) साधुलिंग था। चूँकि वे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी थे और श्रावकवर्ग प्रायः शास्त्रों से अनभिज्ञ था, इसलिए इस अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग को धारण करते हुए भी वे लोक के अन्य (जैनेतर) साधुओं जैसे दिखाई देने के कारण श्रावकों के द्वारा गुरु मान लिये गये, इस तरह वे उनके धर्मगुरु बन गये। वे महन्त-पुरोहितों के समान आचरण करते थे, गृहस्थों की कर्मकाण्डीय क्रियाएँ सम्पन्न कराते थे, बदले में गृहस्थों से दान-दक्षिणा और चढ़ावा लेते थे तथा मठों में नियतवास करते हुए वहाँ के मन्दिर-तीर्थादि का प्रबन्ध एवं सम्पत्ति की देखभाल करते थे, दान में प्राप्त भूमि में कृषि कराते थे। यह लिंग एवं कर्म उन्हें एक अनागमोक्त-स्वयंभू-जैन-संगठन के द्वारा स्थानविशेष के पट्ट पर अधिकारी के रूप में विधिपूर्वक अभिषिक्त करके सौंपा जाता था।

२

दिगम्बरपरम्परा में नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी मिथ्या धर्मगुरुओं की परम्परा ही भट्टारकपरम्परा

दिगम्बरपरम्परा में उपर्युक्त नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी मिथ्या धर्मगुरुओं की परम्परा भट्टारक-परम्परा या भट्टारकसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिन पुरुषों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के लिए पूज्यता एवं विद्वत्ता-सूचक भट्टारक-उपाधि का प्रयोग किया जाता है, उनका कोई सम्प्रदाय नहीं होता, क्योंकि पूज्यता एवं विद्वत्ता किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्ति में हो सकती है। **सम्प्रदाय या परम्परा उन्हीं लोगों की बनती है, जिनका समान लिंग (वेश), समान मत, समान कर्म एवं समान आचरणपद्धति होती है।** पूज्यता और विद्वत्ता भिन्न लिंग, भिन्न मत, भिन्न कर्म एवं भिन्न आचरणपद्धतिवाले व्यक्ति में भी होती है। अतः पूज्यता एवं विद्वत्ता-सूचक भट्टारक-उपाधिधारी व्यक्तियों का सम्प्रदाय या परम्परा नहीं होती। इसलिए भट्टारक-परम्परा शब्द से उनके समुदाय का संकेत नहीं होता। अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी, दिगम्बरजैन, नवोदित मिथ्या धर्मगुरुओं में ही उपर्युक्त लिंगादि-गत समानताएँ होती हैं। अतः भट्टारकपरम्परा या भट्टारकसम्प्रदाय शब्द से उनका ही समुदाय संकेतित होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी उनकी ही परम्परा को भट्टारक-परम्परा या भट्टारक-सम्प्रदाय नाम से अभिहित किया जा रहा है तथा यहाँ 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग भी प्रायः इसी सम्प्रदाय के व्यक्ति का सूचक है।

३

पासत्थादि मुनियों के वस्त्रधारण से १२वीं शती ई० में भट्टारकपरम्परा का उदय

भावपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार, इन प्राचीन ग्रन्थों में भ्रष्टचरित्रवाले पाँच प्रकार के जिनलिंगी मुनियों का उल्लेख है : पासत्थ (पार्श्वस्थ), कुसील (कुशील), संसत्त (संसक्त), ओसण्ण (अवसन्न) और जहाछंद या मिगचरित्त (यथाछन्द या मृगचरित्र)।[८१] इनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

३.१. पासत्थ (पार्श्वस्थ)

"पन्थानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किन्तु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृ-संस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, **नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति।** गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति सूचि-कर्तरि-नखच्छेद-सन्दंशनपट्टिका-क्षुर-कर्णशोधनाजिनग्राही, सीवन-प्रक्षालनावधूनन-रञ्जनादि-बहुपरिकर्म-व्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादि-कमनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं

८१. भावपाहुड/गा.१४, मूलाचार/गा.५९५, भगवती-आराधना/गा.'किं पुण जे ओसण्णा' १९४३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

बहुतरं करोति। उपकरणबकुशो देहबकुशः दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। पादप्रक्षालनं म्रक्षणं वा यत्कारणमन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थः। अयमत्र संक्षेपः—अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः।''[८२]

अनुवाद—''जैसे कोई मार्ग को देखते हुए भी उस मार्ग से न जाकर उसके समीपवर्ती अन्य मार्ग से जाता है, उसे मार्गपार्श्वस्थ कहते हैं, इसी प्रकार जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, अपितु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता है, वह न तो एकान्त से असंयमी होता है, न निरतिचारसंयमी, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्ड का स्वरूप पहले ('आचेलक्कुद्देसिय' गा. ४२३ की टीका में) कहा गया है, उस भोजन को जो नित्य करता है, भोजन करने के पहले और पश्चात् दाता की स्तुति करता है अथवा उत्पादन और एषणादोष से दूषित भोजन करता है, **नित्य एक ही वसतिका में रहता है, एक ही संस्तर पर सोता है, एक ही क्षेत्र में रहता है, गृहस्थों के घर के भीतर बैठता है,** गृहस्थों के उपकरणों का उपयोग करता है, बिना प्रतिलेखना के वस्तु को ग्रहण करता है या दुष्टतापूर्वक प्रतिलेखना करता है, सुई, कैंची, नखछेदनी, छुरा, कान का मैल निकालने की सींक, चर्म आदि पास में रखता है और सीने, धोने, रँगने आदि के कामों में लगा रहता है, **वह पार्श्वस्थ है।** क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि अकारण ग्रहण कर जो पास में रखता है, वह पार्श्वस्थ है। जो रात में यथेष्ट सोता है, संस्तर को इच्छानुसार लम्बा-चौड़ा करता है, वह उपकरणबकुश है। जो दिन में सोता है, वह देहवकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और शरीर का उबटन करता है, जो गणोपजीवी और तृणपञ्चकसेवी है, वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह कि **जो सुखशील होने के कारण अयोग्य का सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ (पासत्थ) है।''**

३.२. कुसील (कुशील)

''कुत्सितशीलः कुशीलः। यद्येवमवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति। नैवं लोकप्रकट-कुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः। स च कुशीलोऽनेकप्रकारः कश्चित्कौतुक कुशीलः औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिककौतुकमादर्शयति यः स कौतुककुशीलः। कश्चिद् भूतिकर्मकुशीलः। भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः। --- कश्चित्प्रसेनिका-कुशीलः। अङ्गुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी, स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते **प्रसेनिकाकुशील** इति। कश्चिन्न-प्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असंयत-चिकित्सां करोति

८२. विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. 'गच्छंहि केइ पुरिसा' १९४४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है, वह **कुहनकुशील** है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करके बतलाता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है, वह **सम्मूर्च्छनाकुशील** नाम से जाना जाता है। जो त्रसजाति के कीड़ों-वृक्षों, पुष्प-फल आदि का तथा गर्भ का विनाश करता है, जादू-टोना करता है तथा शाप देता है, वह **प्रपातनकुशील** कहलाता है।

"अब गाथा में आये 'आदि' शब्द से गृहीत कुशीलों का वर्णन करते हैं। **जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रह को स्वीकार करते हैं,** हरे कन्द-फल खाते हैं, कृत-कारित-अनुमोदना से भोजन, उपधि और वसतिका का सेवन करते हैं, स्त्रीकथा में लीन रहते हैं, मैथुनसेवन करते हैं, आस्रव के अधिकरणों में लगे रहते हैं, **वे सब कुशील हैं।** जो धृष्ट, प्रमत्त और विकृतवेश होता है, वह भी **कुशील** है।"

३.३. संसत्त (संसक्त)

"संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचरित्रः, अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही **संसक्तः**। पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये सङ्क्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च **संसक्तः**।" (वि.टी./ भ.आ. / गा.१९४४)

अनुवाद—"अब संसक्त का स्वरूप कहा जा रहा है। चारित्रप्रेमियों में चारित्रप्रेमी हो जाना तथा चारित्र-अप्रेमियों में चारित्र-अप्रेमी बन जाना, इस तरह नट के समान अनेकरूप धारण करनेवाला मुनि **संसक्त** कहलाता है। जो पंचेन्द्रियविषयों में आसक्त होता है, ऋद्धिगारव सातगारव और रसगारव में लीन होता है, स्त्रियों में राग रखता है और गृहस्थों से प्रेम करता है, वह **संसक्त** है।"

३.४. ओसण्ण (अवसन्न)

"यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः। **भावावसन्नः** अशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे, वसतिसंस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचार-शुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे च अनुद्यतः, आवश्यकेष्वलसः, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति, न भावत एवम्भूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्नः।" (वि.टी. / भ.आ. / गा.१९४४)।

अनुवाद—"जैसे कोई पुरुष कीचड़ में फँस जाता है या मार्ग में थक जाता है, तो उसे **अवसन्न** कहते हैं। वह द्रव्यरूप से अवसन्न होता है, वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध होता है, वह **भाव-अवसन्न** कहलाता है। वह उपकरण, वसतिका, संस्तरशोधन, स्वाध्याय, विहारभूमिशोधन, गोचरीशुद्धि और ईर्यासमिति में, स्वाध्यायकाल का ध्यान रखने में, स्वाध्याय की समाप्ति तथा गोचरी में यत्नशील नहीं रहता। वह षडावश्यकों में भी आलस्य करता है। अथवा दूसरों की अपेक्षा इन क्रियाओं को

फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करता तो अधिक है, किन्तु वचन और काय से करता है, भाव से नहीं। इस प्रकार चारित्र का पालन करते हुए खेदखिन्न होता है, इसलिए उसे **अवसन्न** कहते हैं।''

३.५. **जहाछंद (यथाछन्द या मृगचरित्र)**

''यथाछन्दो निरूप्यते। उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते **यथाछन्द** इति। तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनप्रशंसनम् आत्मविराधनान्यथा भवतीति। भूमिशय्यातृणपुञ्जे वसतामवस्थितानामाबाधेति। उद्देशिकादिके जनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति। गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सम्प्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणमेवमादिनिरूपणपराः **स्वच्छन्दा** इत्युच्यन्ते।'' (वि.टी./ भ.आ. / गा.१९४४)।

अनुवाद—''अब यथाछन्द के स्वरूप का निरूपण करते हैं। जो उपदेश आगम में नहीं दिया गया है, उसे अपनी इच्छा से कल्पित करके निरूपित करनेवाला मुनि यथाछन्द कहलाता है। जैसे यह निरूपण करना कि वर्षा में जलधारण अर्थात् वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है। छुरे, कैंची आदि से केश काटने की प्रशंसा करना और कहना कि केशलुञ्च करने से आत्मा की विराधना होती है। पृथ्वी पर सोने से तृणों में रहनेवाले जन्तुओं को बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि भिक्षा के लिये पूरे ग्राम में भ्रमण करने से जीवनिकाय की महती विराधना होती है। घर के पात्रों में भोजन करने में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना और हाथ में भोजन करनेवाले को परिशातनदोष का भागी बतलाना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाला कोई नहीं है, ऐसी बात करना। इस तरह की बातें करनेवाले मुनि **स्वच्छन्द** कहलाते हैं। (इन्हीं का नाम यथाछन्द या मृगचरित्र है)।''

आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में कहा है कि इन पासत्थ आदि पाँच प्रकार के मुनियों का अस्तित्व अनादिकाल से पाया जाता है–

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभाव-बीएहिं॥ १४॥

अनुवाद—''हे मुनि! तूने अनादिकाल से अनेक बार पार्श्वस्थ आदि भावनाओं का चिन्तन कर कुभावनारूप बीजों के द्वारा दुःख प्राप्त किया है।

कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में ऐसे मुनियों को **लौकिक मुनि** की भी संज्ञा दी है—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि॥ २/६९॥

अनुवाद—"निर्ग्रन्थदीक्षा लेकर भी यदि मुनि ऐहिक (लौकिक) कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो संयम-तप युक्त होते हुए भी उसे लौकिक (मुनि) कहा गया है।"

ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, वैद्यक आदि लौकिक जीवन के उपाय ऐहिककर्म कहलाते हैं—

"**ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनानाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिष-मन्त्रवादि-वैदिकादिभिरैहिक-जीवनोपायकर्मभिः।**" (ता.वृ./ प्र.सा.३ / ६९)।

इस प्रकार के पासत्थ-कुसीलादि या लौकिक मुनि कुन्दकुन्द के समय में भी थे, यह लिंगपाहुड की निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होता है—

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण॥ ९॥

अनुवाद—"जो जिनलिंग धारण कर दूसरों के विवाहसम्बन्ध जोड़ता है तथा कृषि एवं वाणिज्य करके जीवघात करता है, वह पापी नरक में जाता है।"

इस प्रकार मन्दिरों और मठों में नियतवास करनेवाले तथा कृषि-वाणिज्य, मंत्रतंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले दिगम्बरमुनियों की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी। उनके भ्रष्टचरित्र के कारण आगम में उन्हें पार्श्वस्थ, कुशील, लौकिकमुनि आदि नामों से वर्णित किया गया है।

३.६. सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द के प्रचलन की कथा

ईसा की बारहवीं सदी में उक्त पासत्थादि भ्रष्ट मुनियों में से अधिकांश ने जिनलिंग का परित्याग कर नियमितरूप से वस्त्र धारण करना शुरू कर दिया, गद्दों पर सोने लगे और कम्बल ओढ़ने लगे। इसके दो कारण थे। पहला काम को न जीत पाने के कारण कदाचित् उत्पन्न हुयी शारीरिक विकृति को छिपाना और शीतादि-परीषहों की पीड़ा से बचना। शीतादि की पीड़ा से बचने के लिए तृणमय-प्रावरण का प्रयोग तो मन्दिर मठवासी पासत्थादि मुनियों एवं मुनिपद के अयोग्य अन्य मुनियों के द्वारा पहले ही किया जाने लगा था। इसकी सूचना **परमात्मप्रकाश** के व्याख्याकार श्री ब्रह्मदेव (११वीं शती ई०) के निम्नलिखित कथन से मिलती है—

"**विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपः पर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपान-संयम-शौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति।**" (प.प्र. / अधिकार २ / दोहा ८९)।

अनुवाद—विशिष्ट संहननादिशक्ति के अभाव में यद्यपि तप के साधनभूत शरीर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की स्थिति के लिए मुनि अन्न, पान, संयम, शौच और ज्ञान के उपकरण (पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र) तथा तृणमय प्रावरण (तिनकों से बना हुआ चादर) आदि ग्रहण करता है, तथापि उनमें ममत्व नहीं करता।''

ईसा की १२वीं शताब्दी में इन देहसुख-लोलुप पासत्थादि भ्रष्ट मुनियों ने निःसंकोच होकर वस्त्र पहनना-ओढ़ना शुरू कर दिया।

ऐसा करने का दूसरा कारण यह था कि देश के मुस्लिमशासित राज्यों में दिगम्बर जैन मुनियों पर मुसलमानों के द्वारा उपसर्ग किया जाता था। इस कारण से भी मन्दिर-मठवासी मुनियों ने पहले बाहर निकलते समय शरीर को चटाई, टाट आदि लपेटकर ढँगना आरंभ किया, पश्चात् ईसा की १२वीं सदी में वे जिनलिंग का सर्वथा परित्याग कर नियमितरूप से वस्त्र पहनने लगे। (देखिये, आगे 'दंसणपाहुड' की २४वीं गाथा की श्रुतसागरटीका)।

मन्दिर-मठवासी पासत्थादि मुनियों के इस वेशपरिवर्तन में भी एक विशेषता थी। उन्होंने जिनलिंग का परित्याग तो कर दिया, किन्तु पिच्छी-कमण्डलु का त्याग नहीं किया, पिच्छी-कमण्डलु रखते हुए लुंगी-चादर धारण करने लगे। उनका यह लिंग दिगम्बरमुनि, एलक, क्षुल्लक और सामान्य श्रावकों से भिन्न था। इस लिंग में वे जैनेतर साधुओं जैसे दिखते थे। इसलिए यह एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग था। किन्तु जिनागम के अनुसार यह गृहस्थलिंग ही था। इस सर्वांगवस्त्रमय गृहस्थलिंग को धारण करके भी वे मठ-मन्दिरों में पूर्ववत् निवास करते हुये, वे ही गृहस्थकर्म करते रहे, जो पासत्थादि मुनि-अवस्था में करते थे। यह परिवर्तन कथंचित् अच्छा था और कथंचित् बुरा। इसमें अच्छी बात यह हुई कि वे उन पापों से बच गये, जो जिनलिंग में रहते हुए गृहस्थकर्म करने से हो रहे थे और जिनलिंग भी कलंकित होने से बच गया। आदिपुराण (१७/२१२) में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार स्वामिभक्त राजाओं ने भी मुनिदीक्षा ग्रहण की थी, किन्तु वे उसके योग्य नहीं थे, इसलिए परीषहों से घबराकर स्वयं ही वृक्षों के फल तोड़कर खाने लगे और तालाबों का जल पीने लगे। तब वनदेवियों ने उनकी निन्दा करते हुए कहा—''अरे मूर्खो! यह जिनलिंग अरहन्तों और चक्रवर्तियों के द्वारा अवलम्बनीय होने से अत्यन्त पूज्य है। इसमें रहते हुए तुम इसके विरुद्ध आचरण कर इसे निन्दा का पात्र मत बनाओ।'' तब उन मुनियों ने जिनलिंग का परित्याग कर दिया और अन्य साधुओं का वेश धारण कर अपनी क्षुधा-तृषा शान्त करने लगे। (आदिपुराण/१८/५१-५७) इस प्रकार वे उन घोर पापों से बच गये, जो जिनलिंग में रहते हुए उसके विरुद्ध आचरण करने से संभव थे। यद्यपि उनका दूसरा मार्ग भी मिथ्यात्वमय होने से पापास्रव

का हेतु था, पर उतना अधिक नहीं, जितना पहलेवाला था, क्योंकि आचार्य ने कहा है—

अन्यलिङ्गकृतं पापं जिनलिङ्गेन मुच्यते।
जिनलिङ्गकृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

अनुवाद—"अन्य लिङ्ग में रहकर किया गया पाप जिनलिङ्ग धारण करने से छूट जाता है, किन्तु जिनलिङ्ग में रहकर किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है, अर्थात् किसी भी अन्य लिङ्ग से नहीं छूटता।" (मो.पा./गा.७८/श्रुतसागरटीका में उद्धृत)।

यही अच्छी घटना उन पासत्थादि-मुनियों के साथ घटित हुई थी, जिन्होंने योग्यता के अभाव में जिनलिंग का परित्याग कर गृहस्थलिंग धारण कर लिया था। किन्तु इस अच्छे कार्य के साथ जो बुरा कार्य उन्होंने किया, वह यह था कि गृहस्थावस्था स्वीकार करके भी पिच्छी-कमण्डलु का परित्याग नहीं किया और ऐसे वस्त्र धारण किये जिससे वे जैनेतर साधु जैसे लगते थे। और इस साधु-सदृश छवि के द्वारा उन्होंने धर्मगुरु का पद हथिया लिया। इस प्रकार दिगम्बरपरम्परा में उन्होंने साधु का एक आगमविरुद्ध नया प्रकार प्रक्षिप्त कर दिया और उसे साधुपद के रूप में श्रावकों से मान्यता दिलाने के लिए अपने लिए **स्वामी, जगद्गुरु, कर्मयोगी, पण्डिताचार्य** जैसी उपाधियों का प्रयोग प्रचलित किया।

जिनलिंग धारण करने की सामर्थ्य न होने पर उसे धारण न करना उचित है और धारण करने के बाद पता चले कि उसका पालन करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है, तो उसे छोड़ देना उचित है, किन्तु यह याद रखना चाहिए कि मोक्ष जिनलिंग से ही संभव है, अतः उसकी योग्यता विकसित करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा उसका पालन संभव बनाने के लिए योग्य देश की खोज और अनुकूल समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। साथ ही परिस्थितियों को अपनी लक्ष्यसिद्धि के अनुकूल बनाने का पौरुष करते रहना चाहिए। किन्तु यह उचित नहीं है कि जिनलिंग का परित्याग कर एक नये सवस्त्र लिंग को साधुलिंगवत् मान्यता दिलाकर अपने को दिगम्बर-जैन धर्मगुरु के पद पर बैठा दिया जाय और भोले श्रावकों को देवी-देवताओं एवं निरर्थक कर्मकाण्ड के मायाजाल में फँसाकर वास्तविक धर्म से वंचित किया जाय और उनकी श्रद्धा तथा धन का शोषण किया जाय। यह मायाचार है और यह भी पाप का कारण है। पासत्थादि मुनियों के द्वारा जिनलिंग का परित्याग जहाँ एक अच्छा कार्य था, वहीं एक जिनोपदेशविरुद्ध मिथ्या सवस्त्र साधुलिंग का जैनपरम्परा में प्रक्षेप बुरा कार्य था। फिर भी इस लिंग से किया गया पाप वैसा वज्रलेपात्मक नहीं होता, जैसा जिनलिंग से किया गया पाप होता है।

जिन पासत्थादि मुनियों ने जिनलिंग का परित्यागकर अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण किया था, वे अब जिनलिंग के अभाव में मुनि तो कहला नहीं सकते थे, एलक-क्षुल्लक के लिंगों से रहित होने के कारण इन नामों से भी उन्हें सम्बोधित किया जाना संभव नहीं था, इसलिए उन्होंने अपने नवोदित भ्रष्ट सम्प्रदाय को भट्टारक-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने सम्बोधन के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रचलित कर दी। यह शब्द परम्परा से उन्हें सुलभ भी था। 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग दिगम्बर मुनियों के लिए आदरसूचनार्थ प्रयुक्त होता आ रहा था। पासत्थादि दिगम्बर मुनियों के अजिनोक्त सवस्त्र साधुलिंग धारण कर लेने के बाद भी भोले श्रावक उन्हें आदरसूचनार्थ 'भट्टारक जी' कहकर पुकारते रहे। फलस्वरूप यह शब्द उनके सम्बोधन के लिए रूढ़ हो गया। इस प्रकार जो शब्द पहले श्रद्धास्पदता और पूज्यता का अभिव्यंजक था, वह अब मुनिपद से पतित, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगधारी, गृहस्थदशापन्न, नवोदित, अवास्तविक धर्मगुरु का वाचक बन गया।

३.७. 'भट्टारक' शब्द का अर्थापकर्ष ईसा की १२वीं सदी में

भट्टारक शब्द के अर्थापकर्ष (पूज्यतार्थ से हीनतार्थ द्योतक बन जाने) की यह तकदीर ईसा की १२वीं सदी में लिखी गयी। **अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु** के अर्थ में **भट्टारक** शब्द का प्राचीनतम उल्लेख बुन्देलखण्ड के दिगम्बर जैन तीर्थ **अहार** (म.प्र.) में वि० संवत् १२१३ के श्री सुमतिनाथ-प्रतिमा-लेख में मिलता है, जो इस प्रकार है—

"संवत् १२१३ भट्टारक स्त्री माणिक्यदेव गुण्यदेवौ प्रणमति नित्यम्।"

अनुवाद—"विक्रमसंवत् १२१३ (ई० सन् ११५६) में भट्टारक श्री (स्त्री) माणिक्यदेव और गुण्यदेव (प्रतिमा-प्रतिष्ठा कराकर) नित्य प्रणाम करते हैं।"

'प्रणमति' के स्थान में 'प्रणमतः' होना चाहिए था। किन्तु प्रायः सभी प्रतिमालेख टूटी-फूटी संस्कृत में लिखे गये हैं।

यह लेख डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन' के '**भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थपरिचय मध्यप्रदेश : १३वीं शती तक**' ग्रन्थ (लेख क्र. १४६/पृ.१६७) से उद्धृत है।

इसके बाद अहार (म.प्र.) के ही वि० संवत् १२१६ के श्री शान्तिनाथ-प्रतिमालेख में 'भट्टारक' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

"सम्वत् १२१६ माघ सुदि १३ सु (शु) क्र दिने श्रीमत कुटकान्वये पंडित श्री मंगलदेव तस्य सिस्य भट्टारक पद्मदेव---वस। तस्य---।"

अनुवाद—''संवत् १२१६ माघ सुदी त्रयोदशी शुक्रवार के दिन श्रीमत्कुटकान्वय में प्रसूत पंडित श्री मंगलदेव, उनके शिष्य भट्टारक पद्मदेव, उनके शिष्य---ने (प्रतिष्ठा करायी)।''

(डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन सुमन के उपर्युक्त ग्रन्थ से उद्धृत/लेख क्र० १६०/पृष्ठ १७८)।

दिगम्बरजैन बड़ा मन्दिर, छतरपुर (म.प्र.) में संवत् १२७२ के श्री ऋषभनाथ-प्रतिमालेख में भट्टारक श्री धर्मचन्द्र जी के निर्देशन में छतरपुरवासी सहनिका वीसलचन्द्र और भारीनाथ के द्वारा उक्त प्रतिमा के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है—

'सं० १२७२ वर्षे माघसुदी ५ श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छ भट्टारक श्री धर्मचन्द्र जी सहनिका वीसलचन्द्र भारीनाथ सातासारग उरणथता श्री राजराव हमीरदेव।' (कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख/क्र.४/पृ.२६)।

इसी मन्दिर में इन्हीं भट्टारक जी के प्रतिष्ठाविधि-निर्देशन में संवत् १२७२ में भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापित किये जाने के प्रतिमालेख उपलब्ध हैं।[८४]

छतरपुर (म.प्र.) के इसी दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर में उपलब्ध संवत् १३१० के एक यंत्रलेख में भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति का इस प्रकार उल्लेख है—

'संवत् १३१० माह सुदी ५ गुरौ मूलकलंकणेरनन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वती-गच्छे कुन्दकुन्दाचार्य्याम्नाये भट्टारक स्त्री नरेंद्रकीर्ति तदाम्नाये खण्डेलवालान्ये (न्वये) सादगोत्रे संसक पाटणी गोत्रे संपतदास प्रतिष्ठाप्यां (यां) अजमेर गोत्रे श्रावक स्त्री नित्यं प्रणम(मं)ति।'

अनुवाद—''संवत् १३१० माघ सुदी पंचमी गुरुवार को मूलसंघ के अकलंक (निष्कलंक) नन्दी आम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दान्वय में भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति, उनके आम्नाय में खंडेलवाल-अन्वय और सादगोत्र के संसक, पाटनीगोत्र के संपतदास तथा अजमेरागोत्र के श्रावक श्री --- (प्रतिष्ठा कराकर) नित्य प्रणाम करते हैं।''

(डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन' के उपर्युक्त ग्रन्थ से उद्धृत। लेख क्र० २६७/पृ. २६९। यह यंत्रलेख श्री कमलकुमार जैन के 'जिनमूर्ति-प्रशस्तिलेख' ग्रन्थ में पृष्ठ ६८ पर संकलित है।)

---

८४. कमलकुमार जैन : जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख/क्र.५ एवं ६/पृ. २६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन प्रतिमालेखों से सिद्ध होता है कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शती में हुआ था। अर्थात् इसी सदी में पासत्थादि दिगम्बरजैन साधु नग्नत्व त्यागकर जैनेतर साधु जैसे वस्त्र धारण करने लगे थे और इसी सवस्त्र वेश में जैनों के धर्मगुरु बन कर उन्होंने अपने को भट्टारक नाम से प्रसिद्ध किया था।

पं० नाथूराम जी प्रेमी का भी यही मत है कि जब से चैत्यवासी या मन्दिरवासी दिगम्बरमुनि वस्त्र (अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग) धारण करने लगे, तभी से भट्टारकप्रथा प्रारंभ हुई। और उक्त लिंग धारण करने की प्रथा भट्टारक श्रुतसागर सूरि के कथनानुसार विक्रम सं० १२६४ में चैत्यवासी मुनि वसन्तकीर्ति ने चलायी थी। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रेमी जी लिखते हैं—

"दिगम्बर चैत्यवासियों के अन्तिम विकसित रूप भट्टारकों में यह परम्परा अब तक रही है कि वे और समय तो वस्त्र पहिने रहते हैं, परन्तु आहार के समय उतारकर अलग रख देते हैं। यह इस बात का सबूत है कि पहले वे बिल्कुल नग्न रहते थे और निरन्तर वस्त्रधारण करने की प्रवृत्ति उनमें पीछे शुरू हुई।

"विक्रम की सोलहवीं सदी में श्रुतसागर ने लिखा है कि कलिकाल में म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियों को नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डप दुर्ग (मांडू) में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने उपदेश दिया कि मुनियों को चर्या आदि के समय चटाई, टाट आदि से शरीर को ढँक लेना चाहिए और फिर चर्या के बाद चटाई आदि को छोड़ देना चाहिए। यह अपवादवेष है।

"**कोऽपवादवेषः? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति। तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः**" (श्रुतसागरटीका / दंसणपाहुड / गा.२४)।

"मूलसंघ की गुर्वावली में चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारकों के जो नाम दिये हैं, उनमें वसन्तकीर्ति का नाम आता है, जो वि० संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं। उस समय उस तरफ मुसलमानों का आतंक भी बढ़ रहा था। शायद इन्हीं को श्रुतसागर ने इस अपवादवेष का प्रवर्तक बतलाया है। अर्थात् विक्रम की तेरहवीं सदी के अन्त में दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय लज्जानिवारण के लिए चटाई आदि का उपयोग करने लगे थे।

"वि० सं० १२९४ में (श्वेताम्बरमुनि) महेन्द्रसूरि ने **शतपदी** नामक संस्कृत ग्रन्थ की रचना की है, जो प्राकृत **शतपदी** का अनुवाद है। प्राकृत 'शतपदी' सं० १२६३

में बनी थी और उसके कर्त्ता धर्मघोष थे। उसमें **दिगम्बरमत-विचार** नाम का एक अध्याय है, जिसमें स्त्रीमुक्ति, प्रतिमाशृंगार, मुनियों का पाणिपात्रभोजन और वस्त्रग्रहण आदि विषयों को लेकर दिगम्बरसम्प्रदाय की आलोचना की गई है।" (जै.सा.इ.—प्रेमी / द्वि.सं. / पृ. ४८९-९०)।

उक्त **दिगम्बरमत-विचार** में दिगम्बर साधुओं को लक्ष्य करके जो बातें कही गयी हैं, उनसे इस बात का पता लगता है कि विक्रम की तेरहवीं सदी में दिगम्बर मुनियों का चरित्र कैसा था। उसकी कुछ बातें पं० नाथूराम जी प्रेमी ने **जैनहितैषी** में अर्थसहित प्रकाशित की थीं। उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"१. यदि च दिग्वासस्तत्कथं सादरिकापरियोगपट्टकान् गृह्णन्ति यदि तु पञ्चमकालत्वात् लज्जापरिषहासहिष्णुतया च आवरणमपि गृह्णन्ति ततः कथं न परिदधति। नहि प्रावरणमुत्कलं परिधानं च निषिद्धमित्यस्ति क्वापि। अन्यच्च प्रावरणमपि प्रासुकेनैव वस्त्रेण यथालब्धेन किमिति न क्रियते, किमिति रजकादिहस्तेन ह्रदसरःप्रभृतिषु सशैवालद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-जीवाकुलेन क्षालनमनेकसत्त्व-संघातविघातकेनाशोधितेन्धनप्रज्वालितेन वह्निना रञ्जनादिकं विधाप्यते।

अनुवाद—"यदि तुम दिगम्बर हो तो चटाई तथा योगपट्ट (लज्जानिवारक आवरण) क्यों रखते हो? यदि कहो कि पंचमकाल होने के कारण तथा लज्जापरीषह का सहन नहीं हो सकने के कारण रखते हैं, तो फिर उसे निरंतर ही क्यों नहीं पहिनते हो? क्योंकि ऐसा तो कहीं कहा ही नहीं है कि आवरण वा योगपट्ट रखना, परंतु पहिरना नहीं। और वह आवरण जैसा मिल जाय वैसा प्रासुक वस्त्र लेकर क्यों नहीं बनाते हो? धोबी आदि के हाथ से जीवमय नदियों, तालाबों में क्यों धुलाते हो, तथा बिना शोधे ईंधन से जलाई हुई आग के द्वारा उसको रँगाते क्यों हो?

"२. स्वभावसिद्धं सुलभं अल्पमूल्यं च श्वेतकल्पं विना शीतकाले अनन्यसममहासावद्यां सर्वत आधारसत्त्वज्वलनाधारामङ्गारशकटीं भजन्ते। शुषिरं सबीजं च संस्तरणाद्यर्थं पलालमाश्रयन्ति। तैलाभ्यङ्गं च निषिद्धं कारयन्ति। जिनभवनगूढमण्डपादिष्वप्याशातनामगणयन्तः शीतभयाच्छेरते। ग्लानत्वे च गृहस्थसम्बन्धीन्यप्रत्युपेक्षतानि प्रमाणाधिकानि यतिजनायोग्यानि पटीद्विपटीबोरकरल्लिकादीनि प्रावृण्वन्ति।

अनुवाद—"बिना कपड़े के (तुममें से बहुत से साधु) शीतकाल में महान् पाप की करनेवाली अग्नि की अँगीठी का सहारा लेते हैं, बीजयुक्त और बिना बीज के पयाल के बिछौने का आसरा लेते हैं, तैल की मालिश, जो साधुओं के लिये वर्जित है, कराते हैं, अविनय होने का कुछ भी विचार नहीं रखके जिनमंदिर के गूढ़मण्डप (गर्भालय) में सोते हैं। इसके सिवाय गृहस्थों के बर्ते हुए, साधुओं के

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन प्रतिमालेखों से सिद्ध होता है कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शती में हुआ था। अर्थात् इसी सदी में पासत्थादि दिगम्बरजैन साधु नग्नत्व त्यागकर जैनेतर साधु जैसे वस्त्र धारण करने लगे थे और इसी सवस्त्र वेश में जैनों के धर्मगुरु बन कर उन्होंने अपने को भट्टारक नाम से प्रसिद्ध किया था।

पं० नाथूराम जी प्रेमी का भी यही मत है कि जब से चैत्यवासी या मन्दिरवासी दिगम्बरमुनि वस्त्र (अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग) धारण करने लगे, तभी से भट्टारकप्रथा प्रारंभ हुई। और उक्त लिंग धारण करने की प्रथा भट्टारक श्रुतसागर सूरि के कथनानुसार विक्रम सं० १२६४ में चैत्यवासी मुनि वसन्तकीर्ति ने चलायी थी। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रेमी जी लिखते हैं—

"दिगम्बर चैत्यवासियों के अन्तिम विकसित रूप भट्टारकों में यह परम्परा अब तक रही है कि वे और समय तो वस्त्र पहिने रहते हैं, परन्तु आहार के समय उतारकर अलग रख देते हैं। यह इस बात का सबूत है कि पहले वे बिल्कुल नग्न रहते थे और निरन्तर वस्त्रधारण करने की प्रवृत्ति उनमें पीछे शुरू हुई।

"विक्रम की सोलहवीं सदी में श्रुतसागर ने लिखा है कि कलिकाल में म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियों को नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डप दुर्ग (मांडू) में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने उपदेश दिया कि मुनियों को चर्या आदि के समय चटाई, टाट आदि से शरीर को ढँक लेना चाहिए और फिर चर्या के बाद चटाई आदि को छोड़ देना चाहिए। यह अपवादवेष है।

"**कोऽपवादवेषः? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति। तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः**" (श्रुतसागरटीका / दंसणपाहुड / गा.२४)।

"मूलसंघ की गुर्वावली में चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारकों के जो नाम दिये हैं, उनमें वसन्तकीर्ति का नाम आता है, जो वि० संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं। उस समय उस तरफ मुसलमानों का आतंक भी बढ़ रहा था। शायद इन्हीं को श्रुतसागर ने इस अपवादवेष का प्रवर्तक बतलाया है। अर्थात् विक्रम की तेरहवीं सदी के अन्त में दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय लज्जानिवारण के लिए चटाई आदि का उपयोग करने लगे थे।

"वि० सं० १२९४ में (श्वेताम्बरमुनि) महेन्द्रसूरि ने **शतपदी** नामक संस्कृत ग्रन्थ की रचना की है, जो प्राकृत **शतपदी** का अनुवाद है। प्राकृत 'शतपदी' सं० १२६३

अयोग्य तथा बिना शोधे हुए धोती, दुपट्टा, बोरक आदि बहुत से वस्त्र भी ओढ़ लेते हैं।

"३. तीर्थङ्करानुकारमिच्छतां मठे निवसनमाधाकर्मकादिभोगं तृणपटीपरिधानं पिच्छि-काकमण्डलुधारणं छद्मस्थानां धर्मदेशनां शिष्यशिक्षादीक्षादिकं सर्वमविधेयं स्यादिति।

अनुवाद—"यदि तुम कहो कि, हम तीर्थंकर के अनुयायी हैं, वे वस्त्र नहीं रखते थे, इसलिये हम भी नहीं रखते हैं, तो फिर मठों में रहना, आधाकर्म सेवन (?) तृण की लँगोटी लगाना, मोरपिच्छि तथा कमंडलु रखना, छद्मस्थ होकर धर्म का उपदेश देना, और शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा देना आदि कार्य तुम्हें नहीं करना चाहिये।

"४. यदि च भवतां जिनकल्पानुकारः सर्वथा परिग्रहपरित्यागो वा तत्किमिति अप्रत्युपेक्षणीयम्? शैवालाविलं नलिकामात्रद्वारमहोरात्रमपि जलसन्निधिदोषेण रात्रिभोजनस्य परिग्रहव्रतस्य च दूषणकारिपित्तलताम्रलोहमयशृंखलाषट् वा (?) कमण्डलुः दुःप्रत्युपे-क्षितापिच्छिकावस्त्रोपानहश्च परिगृह्यन्ते कथं वा? पुस्तक-पुस्तिका-कपरिका-स्थपनिका-पुस्तकपटयोगपट्टकासनपट्ट-तृणपटी-खदिरवटिका-नालिकेरनानाविधौषधसन्निधयो ध्रियन्ते? अथैतावान् परिग्रहः पञ्चमकालत्वाद् ध्रियते तर्हि संयमोपष्टम्भकेन लज्जाशीतत्राणादिहेतुना वर्षासु अप्कायादि-यतनकारिणा धर्मोपकरणेन वस्त्रादिनापि किमपराद्धम्? कथं च जिनकल्पानु-कारिणमात्मानं मन्यमाना अपि स्त्रीभिश्चरणप्रक्षालनादिकमार्यिकाभिः सहैकत्रवासः चैत्य-निवासः आर्यिकाभिर्भक्तसंस्कारः सुखासनादिपरिभोगः ज्योतिर्निमित्तचिकित्सामन्त्रवाद-धातुर्वादार्धकाण्डक्षुद्रविद्यादिप्रयोजनः सचित्तपुष्पपत्रैः पादाभ्यर्चनं सचित्तजलघृष्टचन्दनेन पादानुलेपनं कुङ्कुमादिना चरणाङ्गरागः कनकरजतादिभिश्चरणपूजनं सचित्तजलेन चरण-प्रक्षालनं दुग्धघृत-चिक्कसाभिश्चरणस्नानं सदसि व्याख्यानं शिष्यदीक्षणं बहुसाधुमध्ये निवसनं सदैवैकत्रावस्थान-मित्यादीनि कुर्वन्ति?

अनुवाद—"यदि आप जिनकल्पी मुनियों का अनुकरण करनेवाले हैं, तो सर्वथा परिग्रह का त्याग क्यों नहीं करते हैं? पीतल, ताँबे, लोहे की साँकलवाले कमंडलु को, जो शैवाल अर्थात् काई से गन्दा रहता है, एक टोंटीवाला होता है, रात-दिन पानीयुक्त रहने से रात्रिभोजनव्रत में अतीचार लगाता है और परिग्रहत्यागव्रत को दूषित करता है, क्यों रखते हो? पिच्छिका क्यों लेते हो? कपड़े के जूते क्यों पहिनते हो? ग्रन्थ, पोथी, कपरिका (?), स्थपनिका (ठौणा), पुस्तकपट्ट (वेष्टन), योगपट्ट (लज्जानिवारक आवरण), चटाई, तृणकी लँगोटी, और खदिरबटी, नारियल आदि नानाप्रकार की औषधियाँ क्यों पास में रखते हो? यदि यह सब परिग्रह पंचमकाल के कारण रखते हो, तो संयम के सहायक, लज्जा तथा शीत से बचानेवाले, और वर्षा में जलकाय के जीवों की रक्षा करनेवाले वस्त्रादि धर्मोपकरणों ने तुम्हारा क्या अपराध किया है? अर्थात् कपड़ा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

क्यों नहीं रखते हो? और जब तुम अपने को जिनकल्पी मुनियों का अनुकरण करनेवाले मानते हो, तब स्त्रियों से चरण-प्रक्षालन कराना, अर्जिकाओं के साथ एक स्थान में रहना, मंदिरों में रहना, अर्जिकाओं से भोजन बनवाना, पालकी आदि पर चढ़ना, ज्योतिष, निमित्त, चिकित्सा, मंत्रवाद, धातुवाद, अर्धकांड (?) आदि क्षुद्र विद्याओं का प्रयोग करना, सचित्त फूलपत्र, सचित्त जल से घिसा हुआ चंदन, केसर, सोना, चाँदी, घी, दूध आदि पदार्थों से पैर पुजवाना, सभाओं में व्याख्यान देना, शिष्यों को दीक्षा देना, बहुत से साधुओं में रहना, सदैव एक ही स्थान में रहना आदि अनुचित कार्य क्यों करते हो?

"शतपदी के उपर्युक्त अवतरणों से इस बात का पता लगता है कि विक्रम संवत् १२९४ में, जब कि शतपदी रची गई है, बल्कि उससे भी १०-५० वर्ष पहिले **दिगम्बरसम्प्रदाय के साधु जो कि पीछे से अधिकारप्राप्त भट्टारकों के रूप में परिणत हो गये थे,** प्राय: भट्टारकों सरीखा ही आचरण करते थे। वे निरंतर वस्त्र तो नहीं पहिनते थे, तथापि लज्जानिवारण करने के लिये एक रंगीन आवरण रखते थे, घास की लँगोटी भी लगाते थे, शीत से बचने के लिए कोई तैल लगवाते थे, वा पयाल आदि का आसरा लेते थे, मन्दिरों में रहते थे, अर्जिकाएँ भी वहीं रहती थीं, कभी-कभी अर्जिकाओं से भोजन बनवा लेते थे, चटाई रखते थे, ज्योतिष, मंत्र, निमित्तज्ञानादि के भी प्रयोग करने लगे थे, पालकियों पर चढ़ते थे, और दवाइयाँ रखते थे। इस तरह मुनिपद के अयोग्य बहुत से काम करने लगे थे।

"हमारे बहुत से पाठक कहेंगे कि एक भिन्नसम्प्रदायी लेखक की लिखी हुई ये बातें कैसे प्रमाण मान ली जावें? क्या आश्चर्य है, जो उसने दिगम्बरसम्प्रदाय की निंदा करने के अभिप्राय से ही ये बातें लिखी हों। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि ग्रन्थकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य उक्त बातें लिखकर दिगम्बरसम्प्रदाय की निंदा करने का नहीं है। उसने सिर्फ इस बात को बतलाने का प्रयत्न किया है कि तुम्हारी जो वर्तमान वृत्ति है, वह तुम्हारे ही शास्त्रों के अनुकूल नहीं है, और इसकी अपेक्षा तो श्वेताम्बरवृत्ति ही अच्छी है। यह हो सकता है कि उसने इन बातों के लिखने में थोड़ा बहुत अत्युक्ति से काम लिया होगा, परंतु यह संभव नहीं है कि, जो बातें उस समय नहीं थीं, उनका उसने झूठा उल्लेख कर दिया हो। उसकी दी हुई युक्तियाँ ठीक नहीं हों, उनका खंडन हो सकता हो, वे उसने पक्षपात के वश ही लिखी हों, यह सब कुछ हो सकता है, परंतु यह नहीं हो सकता है कि सर्वथा वस्त्ररहित दिगम्बर साधुओं को वह यह कह दे कि तुम योगपट्ट वा वस्त्र रखते हो।

"वि० सं० १२९४ के लगभग की उक्त बातों से हमारा यह विचार भी पुष्ट होता है कि मुनिमार्ग में शिथिलता बराबर क्रम-क्रम से बढ़ती हुई चली आई है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पन्द्रहवीं सदी में जब भट्टारकों की स्थापना हुई थी, तब वे वस्त्र धारण करने लगे थे, बल्कि ऐसा कहना चाहिये कि मुख्यतया वस्त्रों को धारण करके ही भट्टारक हुए थे। परंतु शतपदी के लेख से ऐसा मालूम पड़ता है कि **तेरहवीं शताब्दी के साधु लज्जानिवारण के लिये कभी-कभी योगपट्ट से कटिभाग को आच्छादित कर लेते थे, पर हर समय वस्त्र नहीं पहिनते थे।** तेरहवीं शताब्दी में चटाई, योगपट्ट, पुस्तकपट्ट, औषधियाँ आदि थोड़ा सा परिग्रह रखते थे, परंतु पन्द्रहवीं और उसके पीछे की शताब्दियों में सैकड़ों परिग्रह रखने लगे थे। पहिले बहुत से साधुओं के संघ में रहते थे, पीछे जुदी-जुदी गद्दी स्थापित करके अकेले ही रहने लगे थे। इस तरह चारित्र की शिथिलता के क्रम का पता 'शतपदी' के समय की और भट्टारकों के समय की हालत का मिलान करने से अच्छी तरह से लगता है।''[८५]

प्रेमी जी 'शतपदी' में वर्णित उपर्युक्त बातों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **विक्रम सं० १२९४ के १०-५० वर्ष पहले से मठवासी मुनि यदा-कदा योगपट्ट और तृण-कौपीन धारण करने लगे थे और यह प्रवृत्ति विक्रम की १५ वीं शताब्दी में नियमित रूप से वस्त्र धारण करने में परिणत हो गई। यही भट्टारकसम्प्रदाय की स्थापना का प्रारंभ था।** श्रुतसागर सूरि के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है। उन्होंने कहा है कि वि० सं० १२६४ में श्रीवसन्तकीर्ति ने मुनियों को यह उपदेश दिया था कि आहारादि के लिए जाते समय कटिभाग को चटाई आदि से ढँक लेना चाहिए और बाद में उसे अलग कर देना चाहिए। **तात्पर्य यह कि उस समय मठवासी मुनि यदा-कदा ही कटिभाग को आवृत करते थे, सदा नहीं। नियमित रूप से वस्त्र-परिधान की प्रवृत्ति ने ही भट्टारकसम्प्रदाय को जन्म दिया।** इसके समर्थन में प्रेमी जी ने एक अनुश्रुति या दन्तकथा भी प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—

''यद्यपि किसी प्रामाणिक ग्रन्थ से इस बात का पता नहीं लगता है कि भट्टारकों की उत्पत्ति कैसे और कब हुई है, **परन्तु ऐसी एक दन्तकथा है और शायद भाषा के किसी ग्रन्थ में भी उसका उल्लेख है कि बादशाह फीरोजशाह के समय में (वि० संवत् १४०७ से १४४४) भट्टारक स्थापित हुए हैं।** इसका कारण यह बतलाया जाता है कि बादशाह के दरबार से एक बार ऐसी आज्ञा हुई थी कि दिगम्बर जैनियों को अपने गुरु लाना चाहिये और अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करनी चाहिये, नहीं तो उनके हक में अच्छा नहीं होगा। तदनुसार कुछ दिगम्बरी जैनी कुछ दिन की मुहलत लेकर खोज में निकले और दक्षिण प्रान्त से एक प्रभावशाली मुनि को

८५. 'जैनहितैषी' भाग ७ / अंक ९ / आषाढ़, वीर नि.सं. २४३७ (ई० सन् १९१०) / पृ. १३-१९।

धर्मरक्षा की प्रार्थना करके ले गये। मुनि बड़े विद्वान् थे और मंत्रवादी भी थे, इसलिये उन्होंने अपनी विद्वत्ता से तथा करामात से बादशाह के हृदय में दिगम्बरसम्प्रदाय का महत्त्व स्थापित कर दिया। कहते हैं कि उस समय बादशाह की बेगमों ने उक्त प्रभावशाली मुनि के दर्शनों की इच्छा प्रगट की और उसकी पूर्ति के लिये बादशाह ने तथा दूसरे लोगों ने मुनिराज से कुछ समय के लिये कटिभाग को वस्त्राच्छादित करने की प्रार्थना की। बादशाह के दबाव से कहिये या समय के प्रभाव से कहिये, मुनि ने वस्त्र धारण कर लिया और बेगमों ने उनके दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझा। इसके पश्चात् मुनिराज तो वहाँ से विदा हो गये और वस्त्र त्यागकर तथा छेदोपस्थापना करके तपस्या करने लगे, परन्तु लोग इस उदाहरण को लेकर मुनियों में वस्त्र धरण करने की विधि प्रचलित करने की कोशिश करने लगे और समय ने उन्हें इस प्रयत्न में सफलता भी प्रदान की। **धर्मपट्ट स्थापित होने लगे और उनमें मुनि लोग वस्त्रपरिधान करके गृहस्थों को धर्म का उपदेश देने लगे। ये ही लोग भट्टारकों के नाम से प्रसिद्ध हो गये।** पहला पट्ट देहली में स्थापित हुआ और फिर जयपुर, ग्वालियर, ईडर (महीकांठा), सोजित्रा (सूरत), नागौर, मलखेड (हैदराबाद), कोल्हापुर, कारंजा, मूडबिद्री आदि अनेक स्थानों में जुदे-जुदे संघों और गच्छों के पट्ट स्थापित हो गये, जिनमें से बहुत से अब भी मौजूद हैं।

"भट्टारकों की उत्पत्ति के विषय में ऊपर जिस कथा का सारांश दिया है, उसका इतना भाग तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक मान सकते हैं कि भट्टारकों का जो वर्तमान रूप है, उसकी फीरोजशाह के समय में प्रतिष्ठा हुई और वे **जैनियों के अधिकार-प्राप्त गुरु** कहलाने लगे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके पहिले वस्त्रधारी मुनि नहीं थे और निर्ग्रन्थमार्ग अक्षुण्ण भाव से चल रहा था।"[८६]

यहाँ प्रेमी जी के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि "**धर्मपट्ट स्थापित होने लगे और उनमें मुनि लोग वस्त्रपरिधान करके गृहस्थों को धर्मोपदेश देने लगे। ये ही लोग भट्टारकों के नाम से प्रसिद्ध हो गए।**" इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि जिन मठवासी मुनियों ने अपना मुनिवेश छोड़ दिया और एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग धारण कर लिया तथा अन्य मुनियों से अलग होकर या उन्हें अलग कर रिक्त अथवा नये मन्दिर या मठ में स्वयं का एकाधिकार जमा लिया और उसे धर्मपीठ का नाम देकर, गृहस्थों के धर्मगुरु बनकर, धनोपार्जन करते हुए विलासितामय जीवन-यापन शुरू कर दिया, उन मुनिपद से भ्रष्ट पुरुषों ने अपने लिए अत्यन्त आदरसूचक **भट्टारक** उपाधि का प्रयोग किया और उनका ही सम्प्रदाय **भट्टारकसम्प्रदाय** कहलाया।

---

८६. जैनहितैषी / भाग ७ / अंक ७-८ / वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि. सं. २४३७ / पृ. ६०-६१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यहाँ एक बात विचारणीय है। पं० आशाधर जी ने एक ओर जिनप्रतिमा और जिनगृह के साथ मठ (मुनियों के लिए वसतिका) तथा स्वाध्यायशाला (ग्रन्थालय) आदि के निर्माण की आवश्यकता बतलाई है, दूसरी ओर मठपति मुनियों को म्लेच्छवत् आचरण करनेवाला कहा है, इसका क्या रहस्य है?[८७] यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'मठ' शब्द का अर्थ है मुनियों की वसतिका। इसे पं० आशाधर जी ने श्रमणों की धर्मसाधना का आश्रमपद (निवास स्थान) भी कहा है।[८८] इसी दृष्टि से आचार्य जयसेन ने मठ-चैत्यालय आदि को व्यवहारनय से 'आश्रम' नाम दिया है।[८९] श्रमणों को कुछ विशेष स्थितियों में कुछ समय के लिए उपयुक्त स्थान पर स्थायी वास करने की आवश्यकता होती है, जैसे चातुर्मास काल में, संघ के किसी मुनि की सल्लेखना के समय, किसी विशिष्ट ग्रन्थ के लेखन या अध्ययन के समय तथा किसी विप्लव या उपद्रव के समय। इन अवसरों पर मुनियों का मठ-चैत्यालयों में दीर्घवास दोषपूर्ण नहीं है। किन्तु प्राचीनकाल में कुछ मुनि उनमें नियमितरूप से वास करने लगे और उन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया, खेतीबाड़ी और उससे उत्पन्न अनाज का व्यापार करना शुरू कर दिया। इस तरह का भ्रष्ट आचरण करनेवाले मुनियों को पं० आशाधर जी ने म्लेच्छों की उपमा दी है।

---

८७. क— निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत्।
हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहीणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम्॥ २/३५॥ सागारधर्मामृत।

ख—"अन्ये पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मुनिमानिनोऽवशिनोऽजितेन्द्रियः सन्तस्तां तथाभूता-मार्हतीं मुद्रां बहिःशरीरे न मनसि श्रिताः प्रपन्ना आविशन्ति सङ्क्रामन्ति विचेष्टयन्तीत्यर्थः। कम्? लोकं धर्मकामं जनम्। किंवत्? भूतवद् ग्रहैस्तुल्यम्। अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति। लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थः। कया? तच्छायया आर्हतगतप्रतिरूपेण। तथा च पठन्ति-

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥"

भव्यकुमुदचन्द्रिका-टीका/अनगारधर्मामृत २/९६ (जै.सा.इ.-प्रेमी/द्वि.सं./पृ.४८८ से उद्धृत)।

८८. प्रतिष्ठा-यात्रादि-व्यतिकर-शुभस्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्ष-प्रसर-रस-पूरास्त-रजसः।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं
न यत्रार्हद्गेहं दलितकलि-लीलाविलसितम्॥ २/३७॥ सागारधर्मामृत।

८९. "मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य।" ता.वृ./प्र.सा.१/५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने माना है कि १३वीं शताब्दी ई० में मठवासी मुनियों के वस्त्र धारण प्रारम्भ कर देने पर भट्टारकपरम्परा अस्तित्व में आयी थी। और उन्होंने भट्टारक परम्परा के दो ही प्रमुख लक्षण बतलाये हैं : मठवास और वस्त्रधारण वे लिखते हैं—

"साधुसंघ की साधारण स्थिति से यह परम्परा पृथक् हुई, **इसका पहला कारण वस्त्रधारण था।** भट्टारकपरम्परा का **दूसरा विशिष्ट आचरण मठ और मन्दिरों का निवास स्थान के रूप में निर्माण और उपयोग था। इसी के अनुषंग से भूमिदान को स्वीकार करने और खेती आदि की व्यवस्था भी भट्टारक देखने लगे थे।** --- इन दो प्रथाओं के कारण भट्टारकों का स्वरूप **साधुत्व से अधिक शासकत्व** की ओर झुका और अन्त में यह प्रकटरूप से स्वीकार भी किया गया। वे अपने को **राजगुरु कहलवाते थे** और राजा के समान ही पालकी, छत्र, चामर, गादी आदि का उपयोग करते थे। वस्त्रों में भी राजा के योग्य जरी आदि से सुशोभित वस्त्र रूढ़ हुए थे। कमण्डलु और पिच्छी में सोने-चाँदी का उपयोग होने लगा था। यात्रा के समय राजा के समान ही सेवक-सेविकाओं और गाड़ी-घोड़ों का इन्तजाम रखा जाता था तथा अपने-अपने अधिकार क्षेत्र का रक्षण भी उसी आग्रह से किया जाता था। इसी कारण **भट्टारकों का पट्टाभिषेक राज्याभिषेक की तरह** बड़ी धूमधाम से होता था। इसके लिए पर्याप्त धन खर्च किया जाता था, जो भक्त श्रावकों में से कोई करता था। **इस राजवैभव की आकांक्षा ही भट्टारकपीठों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण रही।**" (भट्टारकसम्प्रदाय / प्रस्तावना / पृ.४-५)।

इस प्रकार मान्य जोहरापुरकर जी का भी यही मत है कि सवस्त्रलिंग और मठवास ये दो ही भट्टारकसम्प्रदाय के असाधारणधर्म हैं, जो भट्टारकों को मठवासी मुनियों से पृथक् करते हैं।

पण्डित हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री वि० सं० १८०५ में लिखे गये[९०] एक ऐतिहासिक पत्र[९१] के आधार पर भट्टारक सकलकीर्ति (वि० सं० १४४३-१४९९) का जीवन परिचय देते हुए लिखते हैं—"यतः ऐतिहासिक पत्र में २२ वर्ष नग्न रहने का स्पष्ट उल्लेख है और ('भट्टारकसम्प्रदाय' ग्रन्थ के) लेखांकों (३३१-३३४) के अनुसार सं० १४९७ तक प्रतिष्ठादि कराना भी सिद्ध होता है, उससे यही सिद्ध होता है कि सकलकीर्ति अपने जीवन के अन्तिमकाल में भट्टारकीय वेश के अनुसार वस्त्रधारी हो गये थे।" (वर्धमानचरित / प्रस्ता. / पृ. ६)।

---

९०. मिलापचन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली / द्वितीयभाग / पृ०१४०।

९१. "आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छविसती संस्थाह तथा तीवारे संयम लेई वर्ष ८ गुरापासे रहीने व्याकरण २ तथा ४ काव्य ५ तथा न्यायशास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्र गोम्मटसार

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन पंक्तियों में पण्डित जी ने भी मठवास के साथ वस्त्रधारण को ही भट्टारकप्रथा के प्रारम्भ का प्रमुख हेतु बतलाया है। किन्तु प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने भट्टारक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की १३वीं शती में (भट्टारकसम्प्रदाय/ प्रस्तावना/ पृ.४) और पं० नाथूराम जी प्रेमी ने १४वीं शती ई० में बतलायी है, वह समीचीन नहीं है। पूर्वोद्धृत जिनप्रतिमालेखों से सिद्ध होता है कि भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२वीं शताब्दी में हो गया था।

निष्कर्ष यह कि दिगम्बरजैन परम्परा में **अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु** के अर्थ में अर्थात् सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में **भट्टारक** शब्द का प्रयोग १२वीं शती ई० में उस समय प्रचलित हुआ, जब पासत्थादि दिगम्बरजैन मुनि अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर दिगम्बरजैन गृहस्थों के अनधिकृत धर्मगुरु बन गये थे। इस तरह भट्टारकसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुई थी।

४

अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी-धर्मगुरु भट्टारकों के असाधारणधर्म

यद्यपि ऊपर वस्त्रधारण और मठों में नियतवास इन दो धर्मों को धर्मगुरु भट्टारकों का असाधारणधर्म बतलाया गया है, तथापि मठादि में नियतवास भट्टारकों का असाधारणधर्म नहीं है, क्योंकि वह मठवासी मुनियों में भी था। आज भी अनेक मुनि तीर्थस्थानों या अन्य स्थानों में नियतवास करते हैं, पर वे भट्टारकपीठ के स्वामी न होने तथा भट्टारककर्म न करने से भट्टारक नहीं कहलाते। हाँ, मठ में नियतवास भट्टारकों का अनिवार्य धर्म अवश्य है। अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण करनेवाले भट्टारकों के अनेक असाधारण धर्म हैं, जो अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु के अर्थ में 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग सुनिश्चित करते हैं। उनका प्ररूपण नीचे किया जा रहा है।

तथा त्रिलोकसार तथा पुराणसर्वे तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि सर्वशास्त्र पूर्वदेशमाहे रहीने वर्ष ८ माहे भणीने श्री वाग्वर गुजरात माहे गाम खोडेषे पधार्या, वर्ष ३४ संस्था थई तीवारे सं० १४७१ ने वर्षे --- साहा श्रीयौचाने गृहे आहार लीधौ। तेहा थकी वाग्वरदेश तथा गुजरात माहे विहार कीधौ। वर्ष २२ पर्यन्त स्वामी नग्न हता जुमले वर्ष ५६ पर्यन्त आवर्या भोगवीने धर्मप्रभाववीने संवत् १४९९ गाम मेसाणे गुजरात जईने श्री सकलकीर्ति आचार्य हुआ (भुआ)--- पीछे श्री नोगामे संघे पदस्थापना करी।" जैन-सिद्धान्त भास्कर/ भाग १३/किरण २/ पृ० ११३ (वीरवर्धमानचरित/ भट्टारक सकलकीर्ति/ प्रस्तावना/ पृ० ५)।

४.१. भट्टारक-दीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन

भट्टारक वही पुरुष कहलाता है, जिसकी स्थानविशेष, जातिविशेष, संघविशेष अथवा गण-गच्छ-विशेष के भट्टारकपीठ पर आसीन होने के लिए भट्टारक-दीक्षा होती है। दीक्षा का अधिकारी आरम्भ में तो कोई पासत्थ-कुसील मुनि होता था, किन्तु बाद में गृहस्थ को ही भट्टारक-पट्ट पर अभिषिक्त किया जाने लगा।

४.२. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण

भट्टारकपद पर दीक्षित होने के लिए गृहस्थ को पहले दिगम्बरमुनि का रूप धारण करना पड़ता है अर्थात् वह नग्न होता है, पिच्छी-कमण्डलु ग्रहण करता है और केशलोच करता है। इस रूप में दीक्षित होने के पश्चात् श्रावकों के आग्रह करने पर वह उनके द्वारा लाये गये वस्त्र धारण कर लेता है, किन्तु पिच्छीकमण्डलु का त्याग नहीं करता। इस कारण उसका वेश न दिगम्बरमुनि जैसा होता है, न एलक-क्षुल्लक एवं सामान्य श्रावक जैसा। वह एक नये प्रकार के जैनेतर साधु-सदृश दिखाई देता है। इस अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग को धारण करने के बाद वह विधिवत् भट्टारक बन जाता है। भट्टारकगण वस्त्रधारण करने के बाद भी कभी-कभी अल्पसमय के लिए नग्न हो जाते हैं, जैसे भोजन के समय तथा प्रत्येक चातुर्मास के प्रथम दिन। वे मुनि के समान ही करपात्र में भोजन करते हैं।[९२]

भट्टारकदीक्षा के इस स्वरूप की पुष्टि वि० सं० १८८० में असाढ़ बदि १०वीं बृहस्पतिवार के दिन भट्टारक श्री सुखेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर भट्टारक श्री नरेन्द्रकीर्ति के अभिषेक के निम्नलिखित विवरण से होती है, जो राजस्थानी भाषा में है—

"मिति असाढ़ वदि १० वीसपतवार नै पदस्थ हुवो। तेरा घड़ी दिन चढ्या नैणसुखजी पंडित छा ज्यांह नै सो नैणसुखजी छ्यौर कराय मंदिर पाटोधी का चोक नै जाय विराज्या केसर्‌या कपडा गहैण सुधा (सहित) पाछै द्वादशानुप्रेक्षा को चिंतवन कीयो। पाछै पंडिता आय समोध्या (सम्बोधित किया) यो धर्म आपको छै। पाछै सारा कपड्या नाष्या (उतार दिये) नगन हुआ पाछै पाषाण की चौकी उपरि जाय विराज्या। पाषाण की चौकी उपरि मंडल माड्यो सुहागणी लुगाई। तिंह के उपरि विराज्या रह्या। नगन (नग्न) बैठ्या बैठ्या श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति योगभक्ति पढवो कर्‌या। पाछै पांच पंच आया वकसी किरपाराम जी दि० (दीवान) संगही आर्तरामजी साह जैतरामजी दि० (दीवान) भीमचंद

---

९२. क—पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी / भाग ८ / अंक २ / मार्गशीर्ष, वीर नि० सं० २४३२ / पृष्ठ ५८।
ख—पं० दीपचन्द वर्णी : भट्टारकमीमांसा / पृ.५ / वीरजयन्ती २४५४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जी का वेटा राव किरपाराम जी का वेटा पोता या पांच मिलि पंचामृत कलशाभिषेक करयो। पाछै सर्वोषधि कलशाभिषेक कीयो पाछै नगन ही ठाकुरजी को दरसण कीयो। आंजली जैतराम जी साह भरी। पाछै आसिका दीनी पंचानै लुगाया नै। पाछै नगन ही सभा में सांघासण (सिंहासन) उपरि आय विराज्या। पाछै धर्मोपदेश दीयो। **पाछै सगला (सब) पंच मिलि अरज करो सो अबार (यह) समय नगन (नग्न) को नहीं तिसौ कपडा लीजे। पाछै बकसीजी पछेवडी दीनी। पाछै जैतराम जी साहजी सालू धोवती दीनी। आप पहैरी (पहनी)।** पाछै आपको नांव (नाम) नरेन्द्रकीर्तिजी स्थापन हुवो। पाछै आप मून (मौन) धारी। पाछै आमैरि का वजार (बाजार) का पंच दुसालो ऊढायो। पाछै सांगानेर का वाजार का पंच मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै दरबार को दुसालो दरोगा विसनजी लेरि आया सो ऊढायो। पाछै आंमैरि का पंचा को दुसालो ऊढ्यौ पाछै कोटा का पंचा को दुसालो आयो सो ऊढ्यो। पाछै दि० (दीवान) संघही मनालाल जी दुसालो ऊढायो, धोवती दीनी। पाछै संघही हुकुमचंद जी दुसालो ऊढायो। पाछा सांगानेर का पंचा दुसालो ऊढायो। पाछै चाटसू का पंचा मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै भागचन्दजी रायन फरद १ ऊढाई। पाछै कोसीकलां का पंचा मिलि दुसालो ऊढायो। पाछै सलेमाबाद का महंत को दुसालो आयो। पाछै दि० जैचंद जी का पोता को सालू १ आया। भट्टारक जी का पदस्थ का बैठवा का महूर्त काढ्यो जदि (जब) सारा गावां ने कागद गया पंचा का नांव (नाम) का सवाई जैपुर (जयपुर) का पंच लिष्या (लिख्या) आपका नांवां का।''[९३]

यह ध्यान देने योग्य है कि मुनिदीक्षा या आचार्यदीक्षा किसी स्थानविशेष या जातिविशेष के धर्मपीठ (धार्मिक गतिविधियों के संचालन का नियत केन्द्र, वस्तुतः धर्माधिकारी की नियत निवासभूमि) पर बैठालने के लिए नहीं दी जाती है, किन्तु भट्टारकदीक्षा स्थानविशेष के, बल्कि प्रायः स्थानविशेष की जातिविशेष के भट्टारकपीठ पर नियुक्त करने के लिए दी जाती थी। इसके लिए पहले भट्टारकपीठ (पट्ट या गद्दियाँ) स्थापित किये जाते थे, फिर उन पर बैठालने के लिए किसी पासत्थ-कुसील मुनि अथवा गृहस्थ युवा या बालक को भट्टारक दीक्षा दी जाती थी। इसीलिए वे अमुक पीठ के भट्टारक या अमुक जाति के भट्टारक नाम से प्रसिद्ध होते थे, जैसे ईडर के भट्टारक, नागौर के भट्टारक, शेतवालों के भट्टारक, नरसिंहपुरों के भट्टारक, इत्यादि।

---

९३. जयपुर के मन्दिर-पाटौदी के संग्रह की एक महत्त्वपूर्ण बही से ''दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी का संक्षिप्त इतिहास एवं कार्यविवरण'' इस ग्रन्थ में उद्धृत। लेखक—डॉ० गोपीचन्द्र वर्मा, बाँसवाड़ा/प्रकाशक—रामा प्रकाशन २६३६, रास्ता खजानेवालान, जयपुर। (मूलपाठ में पूर्णविराम एवं कोष्ठक में शब्दों के हिन्दी रूप प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने दिये हैं)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हूमड़-इतिहास (भाग २) में उल्लेख है कि "जैन समाज में इस वक्त जो जातियाँ हैं, इनकी स्थापना दसवीं सदी के करीब हुई थी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।--- यद्यपि भट्टारक जातिभेद से ऊपर होते थे, फिर भी विरुदावलियों में उनकी जाति का अनेक बार उल्लेख हुआ है।--- इसी प्रकार यद्यपि भट्टारकों के शिष्यवर्ग में सम्मिलित होने के लिए किसी विशिष्ट जाति का होना आवश्यक नहीं था, तथापि बहुतायत से एक भट्टारकपीठ के साथ किसी एक ही विशिष्ट जाति का सम्बन्ध रहता था। बलात्कारगण की सूरत शाखा से हूमड़ जाति, अटेर शाखा से लमेचू जाति, जेरहट शाखा से --- जाति तथा दिल्ली, जयपुर शाखा से खण्डेलवाल जाति का विशेष सम्बन्ध पाया जाता है।"[९४]

जैनहितैषी मासिक पत्र (भाग ११ / अंक १०-११ / श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४४१ / पृष्ठ ६५८) में 'विविध प्रसङ्ग' के लेखक ने लिखा है कि "लातुर (निजाम)' में शेतवाल जाति के भट्टारकों की एक गद्दी है। वह अभी तक खाली थी।--- अब उक्त गद्दी पर एक बालक बिठा दिया गया है।"

भट्टारकचर्चा नामक लघु पुस्तिका (दि० १८.१०.४१) के लेखक-प्रकाशक, जो दि० जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर, मेवाड़ के मन्त्री थे, पृष्ठ ४ पर लिखते हैं—"हम नरसिंहपुराजाति-बन्धुओं के साथ भी भट्टारक जशकीर्ति जी का सम्बन्ध है। आप नरसिंहपुराओं के भट्टारक कहलाते हैं।"

अभिप्राय यह कि भट्टारकपीठ पर बैठालने के लिए ही भट्टारकदीक्षा होती थी और भट्टारकपद पर दीक्षित पुरुष ही भट्टारक कहलाता था। इसलिए जिस मठवासी मुनि की भट्टारकपद पर दीक्षा नहीं होती थी, वह 'भट्टारक' शब्द से अभिहित नहीं होता था।

४.३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण

भट्टारकपीठ पर अभिषिक्त पुरुष को गृहस्थों के धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकार प्रदान कर दिये जाते हैं। यह भट्टारकों के साथ जुड़ी हुयी 'स्वामी', 'जगद्गुरु' 'पण्डिताचार्य', 'कर्मयोगी' आदि उपाधियों से सूचित होता है। धर्मगुरु बन जाने से वह गृहस्थों को धर्म के विषय में निर्देश देता है, विभिन्न प्रकार के व्रतों, अनुष्ठानों, पूजाओं और प्रायश्चित्तों को करने का आदेश देता है, धर्म का ज्ञान कराता है। पण्डिताचार्य के अधिकार प्राप्त हो जाने से गृहस्थों की धार्मिक क्रियाएँ केवल उसी के द्वारा

---

९४. 'हूमड़ जैन समाज का सांस्कृतिक इतिहास'/ भाग २ / पृष्ठ २१८ / सम्पादिका-श्रीमती कौशल्या पंतग्या।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सम्पन्न करायी जा सकती हैं। पूर्वकालीन भट्टारक गृहस्थों के षोडश संस्कार, गृहशुद्धि, गृहप्रवेश, सिद्धचक्रादि-पूजन, शान्तिविधान, हवन, पंचकल्याणक, वेदीप्रतिष्ठा आदि सम्पूर्ण कर्मकाण्ड सम्पन्न कराते थे। धार्मिक और सामाजिक नियमों, रीतिरिवाजों तथा अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने पर गृहस्थों को अर्थदण्ड, सामाजिक भोज, जातिबहिष्कार आदि की सजाएँ देते थे। गृहस्थों के पारस्परिक विवादों को निपटाते थे। मंत्र-तंत्र द्वारा भक्तों का अनिष्टनिवारण, ज्योतिष द्वारा मुहूर्तशोधन, श्रावकों के भविष्य की घोषणाएँ, तथा आयुर्वेद के प्रयोग द्वारा लोगों का रोगनिवारण आदि कार्य भी करते थे। भट्टारकपीठ की सम्पत्ति का प्रबन्ध, खेती-बाड़ी आदि की देखभाल तथा धार्मिक उत्सवों का अनुष्ठान भी उनके कर्त्तव्यों में शामिल था। इस तरह गृहस्थों के धर्मगुरु एवं पुरोहित (पण्डिताचार्य) या धर्माधिकारी के रूप में कार्य करना ही भट्टारकों की अधिकृत भूमिका थी।

४.४. दक्षिणा-चढ़ावा-भेंट-शुल्क आदि से अर्थोपार्जन

गृहस्थों के उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन से भट्टारकों को उनसे यथाभिलषित दक्षिणा प्राप्त होती थी। उनके दर्शनार्थ मठ में जाने पर उन्हें यथेष्ट चढ़ावा मिलता था तथा जब वे श्रावकों के घर भावना (भोजन) के लिए जाते थे तब उन्हें उपकृत करने के उपलक्ष्य में उनसे अच्छी खासी भेंट भी उपलब्ध करते थे। प्रत्येक घर से नियमित वार्षिक कर भी भट्टारकों को दिया जाता था।[९५] एक वर्तमान (सन् १९१० ई० के) भट्टारक के आयस्रोतों का विवरण देते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

"महाराज के कमण्डलु-पूजन का कर एक रुपया है। भोजन की दक्षिणा कम से कम साढ़े तीन रुपया है। दक्षिणा न देने से अथवा ऐसा ही और कोई अपराध करने से श्रावक को जाति से बहिष्कृत होना पड़ता है। वह जाति में शामिल तब हो सकता है, जब आदेशित दण्ड देवे। --- महाराज को गृहस्थों के संस्कारकर्मों में भी द्रव्यप्राप्ति होती है, जैसे बालक के कान फूँकने की फीस सवा रुपया ली जाती है। --- यदि किसी को अपने यहाँ जल्से में जागरण कराना होता है, अर्थात् हिजड़े आदि नचाना होते हैं, तो उसके लिए महाराज को तीन रुपया दण्डस्वरूप पहिले भेंट देकर आज्ञा लेनी पड़ती है। महाराज छोटे-छोटे मुकद्दमें भी कुछ फीस लेकर ले लेते हैं और उनमें कोशिश करके किसी एक पक्ष की जीत करा देते हैं।"[९६]

इन स्रोतों के अतिरिक्त श्रीमानों और राजाओं से दान में प्राप्त भूमि आदि तथा खेती-बाड़ी से भी आय होती थी।

---

९५. पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी/भाग ७ / अंक ९/ पृष्ठ २३/ आषाढ़, वीर नि० सं०२४३७ (ई० सन् १९१०)।

९६. वही / भाग ७ / अंक १०-११ / पृष्ठ १-२ / श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४३७ (ई०सन् १९१०)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४.५. राजोचित वैभव एवं प्रभुत्व तथा ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली

यद्यपि भट्टारकपीठ पर अभिषिक्त होना ही चल-अचल परिग्रह का स्वामी बनना है, पर प्रारंभ के भट्टारकों के पास उतना वैभव नहीं था, जितना बाद के भट्टारकों के पास हो गया। फलस्वरूप प्रारंभिक भट्टारकों की जीवनशैली में सादगी रही होगी। किन्तु उनके वैभव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और उनकी जीवनशैली भी छोटे-मोटे राजाओं के समान विलासितापूर्ण हो गई। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के भट्टारकों के वैभव और जीवनशैली पर प्रकाश डालते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

"यद्यपि वे अपने को निर्ग्रन्थमार्ग के उपासक बतलाते हैं, परन्तु उनका वैभव एक छोटे-मोटे राजा से कम नहीं होता है। उनकी सवारी के लिए पालकी होती है, बैठने के लिए ऊँची गद्दी वा सिंहासन होता है, दौरे में अर्दली की चपरास लगाये हुए कई सिपाही होते हैं, तर माल खिलानेवाला रसोइया होता है, लाखों की दौलत होती है, गरज यह कि ऐहिक भोगों की सहायक जितनी सामग्री चाहिए, वह सब होती है। यदि नहीं होता है, तो कहने-सुनने को एक स्त्रीरत्न नहीं होता है। न जाने इतनी कसर क्यों रख छोड़ी गई है।"[९७]

इसी समय (सन् १९१० ई०) के एक दक्षिणदेशीय भट्टारक की जीवनपद्धति का विवरण प्रेमी जी ने इन शब्दों में दिया है—"महाराज का वेषविन्यास समयानुसार कई प्रकार का होता है। जब आप घोड़े की सवारी करते हैं, तब जाकेट, पायजामा आदि पहिनते हैं, सिर पर एक जरी का कीमती फैंटा बाँधते हैं और हाथ में एक चाबुक रखते हैं। धर्मसम्बन्धी कार्यों के समय बहुमूल्य भगवाँ वस्त्र पहिनते हैं। कभी-कभी जरी की धोती पहिनते हैं। बढ़िया शाल ओढ़ते हैं। हाथ में सोने की 'पहुँची' और मुद्रिका पहनते हैं। खड़ाऊँ लकड़ी की, सोने की, अथवा चाँदी की पहिनते हैं। कमण्डलु चाँदी का और मयूरपिच्छी सोने की रखते हैं। चाँदी के वर्तनों में भोजन करते हैं। इतर, तेल-फुलेल का व्यवहार भी करते हैं। रसोई के लिए एक स्त्री रहती है। इस तरह महाराज के पास सारा महाराजोचित परिग्रह रहता है।"[९८]

गुजरात की ईडरपीठ पर आसीन स्वसमकालीन भट्टारक विजयकीर्ति की सुकीर्ति का वर्णन करते हुए 'प्रेमी' जी कहते हैं—"'हितैषी' के पाठक, ब्रह्मचारी मोतीलाल के शुभनाम को भूले न होंगे। आजकल आपके बड़े ठाठबाट हैं। आपके सुखसौभाग्य

---

९७. वही / भाग ७ / अंक ९ / पृष्ठ २३ / आषाढ़, वीर नि० सं० २४३७।

९८. वही / भाग ७ / अंक १०-११ / पृष्ठ २ / श्रावण-भाद्र, वीर नि० सं० २४३७।

श्री दिगम्बर जैन पचबालयाती पारमार्थिक एव धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पर हाथ साफ किया करें।'' (जैनहितैषी / भाग११ / अंक १०-११ / श्रावण-भाद्र / वीर नि० सं० २४४१/ पृ. ६५६-६५८)।

'प्रेमी' जी ने आगे लिखा है—''इस समय भट्टारकों के चातुर्मास हो रहे हैं। शायद ही ऐसा कोई भट्टारक हो, जिसका खर्च २०-२५ रुपये रोज से कम हो। ये सब रुपये निरीह भोले श्रावकों से वसूल किये जाते हैं। एक-दो स्थानों से हमें जो समाचार मिले हैं, उनसे बड़ा ही दुःख होता है और **भट्टारकों पर बड़ी ही घृणा उत्पन्न होती है। इन लोगों ने अब बड़ा ही करालरूप धारण किया है।** ये श्रावकों के द्वारों पर धरणा देकर बैठते हैं, लंघनें करते हैं, कमंडलु फोड़ते हैं और जब इससे भी काम नहीं चलता है, तब अपने गरीब सिपहियों से श्रावकों को पकड़वाते और पिटवाते तक हैं। गरज यह कि जब तक रुपया नहीं पा लेते, तब तक श्रावकों का पिण्ड नहीं छोड़ते हैं। भाइयो! यह क्या है? **जैनधर्म की इससे अधिक दुर्दशा और क्या हो सकती है?**'' ग्रामीण अज्ञानी श्रावकों में यद्यपि इस विपत्ति से बचने की शक्ति नहीं है, परन्तु हमारे समाज के शिक्षित चाहें तो इस मर्ज का तात्कालिक उपाय हो सकता है। प्रयत्न करने से, आन्दोलन करने से, सब लोगों की सम्मति से ये लोग अनधिकारी ठहराये जा सकते हैं और गवर्नमेन्ट के द्वारा इस तरह के अत्याचार करने से रोके जा सकते हैं। हम आशा करते हैं कि हमारे गुजराती भाई इस विषय में आगे बढ़ने का साहस दिखलायेंगे।''(जैनहितैषी / भाग ११ / अंक १०-११ / श्रावाण-भाद्र / वीर नि० सं० २४४१ / पृ. ६६१)।

'दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर (मेवाड़)' के मन्त्री ने (अपना नाम नहीं दिया) **भट्टारक चर्चा** (तारीख १८-१०-४१) नाम की लघु पुस्तिका का लेखन और प्रकाशन किया है। उसमें उन्होंने अपनी जाति के भट्टारक जशकीर्ति का चरित्र वर्णित करने वाली निम्न काव्यपंक्तियाँ प्रकाशित की हैं—

नाममात्र को साधू बनकर शाही ठाठ दिखाते हैं।
बैठ पालकी श्रावक के घर भोजन करने जाते हैं॥
श्रावकजन से निज चरणों की पूजन भी करवाते हैं।
करें याचना पैसे की, कम हो तो शीश हिलाते हैं॥
जो पैसे की कमी होय तो अन्तराय कर आते हैं।
फिर श्रावक की खैर नहीं, नीचा उन्हें दिखाते हैं॥

कविवर गुणभद्र जी द्वारा रचित **जैनभारती** नामक पुस्तक के निम्न पद्य भी उक्त पुस्तिका में उद्धृत किये गये हैं—

एक दिन अकलङ्क से विद्वान् भट्टारक हुए,
निज शक्ति से जो लोक में प्रभुधर्म-संचालक हुए।